४८ रसूलाबाद

दिनांक [illegible]-१९६३

[illegible]



अनन्य-मानसा

अम्बिका प्रसाद "दिव्य"

प्रकाशक

साहित्य सदन

अजयगढ़ (जिला पन्ना) म० प्र०

१-८ ६३

मूल्य तीन रुपया पचास नया पैसा

मुद्रक

पन्नालाल सोनकर

राष्ट्रीय मुद्रणालय,

५, सम्मेलन मार्ग, प्रयाग

दो शब्द

अनन्य-मानसा आज अपना विचित्र सा नाम लेकर दुनिया के सामने आ रही है। जिसका मन किसी दूसरे की ओर नहीं, परन्तु एक जिसकी ओर है, वह कौन है? इस प्रश्न का उत्तर अनन्य-मानसा का प्रत्येक गीत देगा, परन्तु जब प्रत्येक गीत की उस भावभूमि पर पहुँचा जायगा, जहां स्वयं भावों का सृजन होता है। वह भावभूमि कहाँ है, इसका उत्तर है वह भाव-भूमि कहाँ नहीं है। विश्व की प्रत्येक दृष्टि-गत रचना के पीछे एक स्पष्ट भावों का वातावरण सदैव चलता रहता है, परन्तु उससे साक्षात्कार करने का समय किसे है, किसे उत्कंठा? विविध रूपों में बिखरी हुई सृष्टि, अपने मूल रूप में कहीं तो प्रकट होती है और इस अनिर्वचनीय सत्ता का रहस्य कहीं तो खुलता है, जहा वह उन सब के पीछे एक सूत्र-धार के रूप मे कार्य करती है। विश्व के बिखरे हुए रूप को समेट कर एक जगह रख सकना सम्भव नहीं। विश्व के विस्तार के लिये, सदैव उतना ही स्थान चाहिये जितना वह अभी घेरे हुए है। स्थान को घटा बढ़ा लेना भी उसी की अपनी शक्ति के अन्तर्गत है। इस बिखरी हुई सामग्री को, विश्व या विराट का नाम देना भी एक संकीर्णता में ही उसे घेरना है। अनन्त कह कर भी उसे एक अन्त की भावना पर तोलना है। निस्सीम कहकर भी उसकी सीमा को संकीर्ण करना है। अनादि कह कर भी उसमें एक आदि का आरोप करना है। वह जैसा है उसी रूप मे दर्शनीय है, उसी रूप में विवेचनीय है, उसी रूप में निरूपणीय है, उसी रूप में निराकरणीय है।

जड़ दुनिया प्रश्न पूछेगी, उसके दर्शन उसके विवेचन, तथा निरूपण इत्यादि से लाभ क्या है, परन्तु हमारी चेतन सत्ता उत्तर देगी-उससे क्या लाभ नहीं! जड़ और चेतन में इस प्रश्न पर निरन्तर एक अदृष्ट युद्ध सा चलता रहता है। जिस किसी में चेतन तत्व अधिक होता है, वही अपनी जड़ता का यथा शक्ति परिहार कर अपनी आखों के परे कुछ देखने को

आँखें बढ़ाता है, कानों के परे सुनने को, कान लगाता है, वाणी के परे कुछ कहने को मुख खोलता है। जिसमें जड़ता की प्रधानता होती है, वह अपने चेतन तत्व को भी जड़ ही बना लेता है और अपने लिये आप ही, करतलगत आमलक के समान बन जाता है।

अनन्य-मानसा अपनी सम्पूर्ण चेतना को लेकर चली है, उसने अपनी चेतना की शक्ति को समझा है, और उसका निरन्तर विस्तार करती हुई उसके विस्तार मे आप तैरती हुई, स्वय अपने चतुर्दिक, भावों का एक वातावरण बनाती हुई बढ़ी है। उसका प्रत्येक गीत उसकी अपनी एक भूमिका है, और वह स्वय प्रत्येक गीत की अपने में भूमिका है अनन्य-मानसा का कवि भी अनन्य-मानसा सा उसे देखता है। कभी अनन्य-मानसा के स्वर में उसका कवि बोलता है, कभी कवि के स्वर में अनन्य-मानसा। अनन्य-मानसा की समाधि मुद्रा कितनी विस्तृत, कितनी व्यापक है यही देखना है। उसने बहुत देखा है परन्तु जिसे देखा है, अपनी नयी ही दृष्टि से।

मनुष्य में अभी बहुत पंगुता है। उसे बहुत कुछ देखना है, बहुत कुछ सुनना। वह अभी अपनी आँखों को कानों के स्थान पर तो ले ही नहीं गया। उसे पता ही नहीं कि उसने कितना अधिक सुना है, कितना कम देखा। वह अपने कान आँखों के स्थान पर तो लाया ही नहीं। उसे पता ही नहीं कि उसने कितना अधिक देखा है, कितना कम सुना। दो आँखों से भी एक साथ एक ही वस्तु देखी, दो कानों से एक साथ एक ही शब्द सुना। प्रकृति की योजना को भी उसके अपने चलते रूप में मान लेना भी एक जड़ता है और चेतन उसके प्रति भी विद्रोह करता है। विद्रोह के साथ चेतन कह उठता है मानव! तेरी कविता बधिर है, तेरे गीत अन्धे, तेरे चित्र बेसुरे। अनन्य-मानसा ने अपने इन्हीं विचारों से अपनी प्रगति के लिए प्रेरणा पाई है।

अनन्य-मानसा विश्व के महान निर्माण को अपनी ही आँखों से देखना चाहती है, वह उसे चाहे जैसा भी दिखे। संसार मेघों को भले ही मेघ ही कहे, परन्तु यदि अनन्य-मानसा को, वह मेघ एक प्यासे पपीहा सा ही दिखता है तो, उसे वही मान्य है। अपार जल से लहराता हुआ महार्णव यदि उसे एक प्यासे मृग सा दौड़ता हुआ ही दिखता है तो उसे वही मान्य है। वह नहीं चाहती कि उसके द्रष्टव्य और उसके बीच कोई

पथ-प्रदर्शक आ जावे। अनन्त आकाश उसके सामने खुला है जिसमें एक से एक दीप्तमान तारे चमक रहे हैं। क्या उनमें से किसी एक का भी प्रकाश उस तक नहीं पहुँच सकता। क्या उसकी दो आखें अनन्ताकाश की किन्हीं दो आखों को ढूंढ़ कर अपनी चार नहीं कर सकतीं। उन आखों के बीच वह नहीं चाहती कि कोई धर्म-प्रवर्तक भी आवे। वह आया नहीं कि किसी एक पर ग्रहण लगा। उसकी आखों पर या आकाश की किन्हीं दो आखों पर।

वह आकाश ही में कहानी, उपन्यास, इतिहास, कवितायें और गीत सब पढ़ती है। आकाश के छोटे-छोटे टिमटिमाते तारों मे वे मर्मभरी छोटी-छोटी कहानियां हैं, जिन्हें कितनी ही, अन्तःपुरों मे फँसी हुई युवतियों ने अपनी आँहों के द्वारा ऊपर भेजा हैं। उनके मूक आँसू मेघो की घटायें बने उड़ते फिरते हैं। वह शर्वरी के घटते बढ़ते चन्द्र में जीवन के उपन्यास पढ़ती है, वह आकाश मे उड़ती हुई अंधकार की छायाओं में पृथ्वी के जीवन के खड़हरों के इतिहास पढ़ती है। वह शाश्वत उद्वेलनाओं मे शाश्वत सौन्दर्य, शाश्वत यौवन, शाश्वत जीवन ढूंढ़ती है। आकाश की पुस्तक ही उसके लिये अपनी पुस्तक है। उसकी पूर्णता में भी एक अपूर्णता सी सदा प्रतीत होती रहती है, जो सदैव जिज्ञासा को प्रेरणा देती रहती है।

कहानियाँ वही हैं जो आकाश के तारे कहे, उपन्यास वही हैं जो निरंतर घटता-बढ़ता चन्द्र, सुनावे, इतिहास वही है जो आकाश मे तैरती हुई अंधकार की असित छायायें बतलावें। अनन्य-मानसा, उन्हीं कहानियों, उन्ही उपन्यासो, उन्ही इतिहासों की कायल है। और अन्य किन्हीं की नहीं मनुष्य अपनी कहानियां इतिहासों की कायल है। और अन्य किन्हीं की नहीं मनुष्य अपनी कहानियाँ बनाता रहे, अपने उपन्यास गढ़ता रहे, अपना इतिहास लिखता रहे, परन्तु उन सब में जीवन की एक जड़ता ही तो होगी।

अनन्य मानसा का जीवन चरित्र संसार की बर्बर रक्त की प्यासी, आंधियों का नहीं। उसका जीवन चरित्र प्राकृतिक तत्वों की भयंकरताओं, एवम् बर्बरताओ का भी नहीं। हां उसका जीवन चरित्र एक मात्र विश्व की विचित्रताओं, उसके परिवर्तनों, उसके सरस अभिनयों को देखने का है। वह आंधी को देखती है, ज्वार को देखती है, मेघों को देखती है, मरु को

देखती है, जिसे देखती है वही बनकर देखती है, और यही उसका जीवन चरित्र है, जो सबसे प्रथक होते हुये भी सब की व्यापकता का संकलन है।

वह बाह्य जगत की उपेक्षा नहीं करती। वह बाह्य जगत, और अन्तर्जगत दोनों पर समान रूप से दृष्टि रखती है। उसके गीत तब बनते हैं, जब वह एक बार पृथ्वी पर लहराते हुए समुद्र को देखती है, तो एक बार अपने भीतर लहराते हुए मानस को। उसके गीत तब आविर्भूत होते हैं, जब, तब और जब में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अन्तर्जगत और बाह्य जगत के तार से तार मिल जाते हैं। दोनों एक रूप हो जाते हैं।

प्रकृति के साथ उसकी तन्मयता उसके जीवन के सहज व्यवहारों में भी अनुभव गम्य है। जब वह चलती है तो उसे प्रतीत होता है जैसे कोई पहाड़ी सरिता उसके साथ अपने सहज प्रवाह में बह रही हो। जब वह बैठ जाती है उसे लगता है, जैसे कोई प्रशान्त महासागर उसके साथ बैठ गया हो। प्रकृति के व्यापारों के साथ यह अनन्यता, अनन्य मानसा की अपनी सहज स्वभाविकता है।

वह ऐसे गीत भी नहीं गाना चाहती जिसे पावस की किसी सजल मेघ घटा ने अपनी किसी पिपासा के भार से उद्वेलित हो न गाया हो, और किसी पपीहे ने उसी पिपासा में डूब डूबकर न सुना हो। जिसे किसी मरुस्थल की छलनामय मरीचिका ने अपनी अन्तस ऊष्मा से सन्तप्त होकर अपने वक्षस्थल पर न लिखा हो और जिसे किसी तृषित मृग ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से न पढ़ा हो। वह ऐसे गीत नहीं गाना चाहती जिसे वह गावे और प्रकृति उसे सुने नहीं।

अनन्य मानसा ने जो कुछ लिखा, वह जानती है कि उसके आगे भी बहुत कुछ लिखने को पड़ा है। चन्द्र भी कुछ ऐसे गीत गाता है, जिन्हें उसने अभी लिखा ही नहीं, पावस की मेघ घटायें भी अभी कुछ ऐसे गीत गाती हैं, जिन्हें उसने अभी सुना ही नहीं। जो गीत उसने अभी लिखे ही नहीं वही उसके सबसे मधुर गीत हैं और संसार के कवि सम्मेलन में वह अपने वही गीत सुनाना चाहती है जिन्हे उसने अभी तक लिखा ही नहीं। विश्व की अनन्तता को वह अपने अहम के अभिमान से संकीर्ण नहीं करना चाहती है। उसकी अनन्तता से ही आप अनन्त बनना चाहती है। अनन्तता के साथ अपना तारतम्य चाहती है अपना विस्तार।

अनन्तता में सौन्दय का भी अपना एक विशेष स्थान है. अनन्य मानसा उस सौन्दर्य को अपनी अनन्तता की उपासना में भूली नहीं। उसे सौन्दर्य और यौवन की झाकियाँ जहाँ कहीं भी मिलती है, उन्हें भी वह अपनी उपास्य अनन्तता पर आराधना के प्रसून सी चढ़ाती चलती है। सौन्दर्य अपनी संकीर्णता में भी अनन्त है, निस्सीम है, क्योंकि उसकी शक्ति अनन्त है, उसका प्रभाव अनन्त है, उसकी लहरें अनन्त हैं। सौन्दर्य यदि नारी के रूप पर आता है तो नारी भी अनन्त का रूप हो जाती है। वह अपने शरीर के नगण्य माध्यम से भी अनन्त की प्रतीक बन जाती है। उस सौन्दर्य को देखने के लिए भी पुरुष के मुख पर घूँघट चाहिये, नारी के मुख पर नहीं। उसके चित्र को देख लेना सरल है परन्तु स्वयं उससे साक्षात्कार करना सहज नहीं। सौन्दर्य की लहरें थपेड़ा देकर पीछे फेंकती हैं। पुरुष का सारा पौरुष उसका सामना करने में अक्षम सा हो जाता है। यौवन सौन्दर्य का एक शृङ्गार है। यौवन से जो आभायें बिखरती है अनङ्ग को आमन्त्रित करती है। इसलिये अनन्य-मानसा सुन्दरी को नहीं देखती, सौन्दर्य को ही देखती है, जो अनन्त की एक अपूर्व सत्ता है। सौन्दर्य भविष्य की योजना है।

सौन्दर्य सर्वत्र बिखरा हुआ दिखाई पड़ता है। यहाँ तक कि एक चिड़िये की चंचु में दबे हुए तृण में भी सौन्दर्य दीख पड़ता है। नारी की आँखों मे ही कटाक्ष नहीं हैं उसकी मुस्कराती हुई दन्त-पंक्ति में भी कटाक्ष हैं, उसकी ग्रीवा की प्रत्येक मोड़ में कटाक्ष हैं, उसकी अंग-अंग की भाव-भंगिमा में कटाक्ष हैं, उसकी कटि मे भी कटाक्ष है। उसके आँखों में ही जिसको कटाक्ष दिखते हैं उसने उसे देखा ही नहीं। सौन्दर्य का संचालन किसी एक अंग विशेष से नहीं होता। अंग-अंग में सर्वाङ्गता है। सौन्दर्य एक विश्व भावना है।

सौन्दर्य को देखने के लिए अनन्य मानसा ने बादलों में भी यत्र-तत्र आँखों की कल्पना की है। उन्हें भी कोयलों मयूरों और चातकों का रूप दिया है। अपने मानस में बसे हुए सौन्दर्य का आभूषण पहनाया है। परन्तु तब भी उसकी सौन्दर्य पिपासा शान्त नहीं हुई। बसन्त की वाटिका सुन्दर है। वह देखते बनती हैं, परन्तु जब वह न देखते बनती तब उसका सौन्दर्य पूरा होता। प्रकृति के ताने बाने को समझना सरल काम नहीं।

सौन्दर्य के पीछे भी एक कोई सत्ता है जिसका नाम लेना भी सम्भव नहीं। अनन्य मानसा उस सत्ता के प्रति जागरूक है और उसी से वह

अपना सीधा सम्बन्ध चाहती है। उस सत्ता की बिखरी हुई अनुभूतियाँ सर्वत्र उसे दिखती हैं और उन्हीं बिखरी हुई अनुभूतियो के द्वारा ही उसकी सर्वाङ्गता की कल्पना वह करती है। एक अनुभूति भी सारी विस्तृत सत्ता की अनुभूति है। सारी विस्तृत सत्ता एक-एक अनुभूति में अपनी पूरी झलक देती है। अंशों में देखना, अंगों में देखना, उसके पृथक-पृथक नाम लेना, नाम ले लेकर उसे संकीर्ण करना, अनन्य-मानसा की विचार-पद्धति के विपरीत है, उसकी दार्शनिकता में, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत वाद जैसे भ्रामक शब्दों को स्थान नहीं। उसके सामने अंग-अंग में सर्वाङ्गता है। अंग अंग में अनन्त सौन्दर्य है, अंग-अंग में अनन्त यौवन, अंग-अग में अनन्त जीवन। जीवन में अनन्त सत्ता, जिसका कोई नाम नहीं, एकमात्र उसकी अनुभूति हैं। उसके दर्शन बिना उसके नाम से ही सुगम हैं। नाम रटने या जपने की आवश्यकता नहीं। विश्व, ईश्वर, या विराट जैसे शब्द उस सत्ता के पूर्ण द्योतक नहीं। वे एक परिधि में घिरे हुए से प्रतीत होते हैं। उनसे चिन्तन की प्रेरणा कुंठित सी हो जाती है। भजन या पूजा उपासना को ही श्रेय मिलता है, जो जड़ता का रूप ग्रहण कर लेती है। चिन्तन भी यदि मुक्त नहीं है, यदि उसे भी नियमों से बांधा गया है, समय उसके लिये निश्चित किया गया है, स्थान नियत किया गया है, तो वह भी जड़ता का रूप ग्रहण कर लेता है।

अनन्य-मानसा अहर्निश चिन्तनशील है। उसका कोई स्थान भी नियत नहीं। उसकी दृष्टि आकाश की ओर गई है, आकाश के सुदूर तम अन्त:पुरों को उसने झांका है। वह अपना कोई गीत किसी तारे से चुन लाई है, कोई गीत हँसते हुए चन्द्र से कोई दीप्तमान सूर्य से। वन उपवन में भी उसने ऋतु ऋतु में भ्रमण किया है। उसने तरु पादपों की ओर देखा है, तरु पादपों के, प्रसून, मंजरियों, और किसलयों की ओर देखा है, और उनसे भी अपने कुछ गीत उनके फूलों के समान ही, उनकी फूलों की लदी डालियों के समान ही चुन लाई है। उसने समुद्र की ओर दृष्टि फेंकी है, और समुद्र की लहरों, उसके ज्वारों को भी देखा है। उसने जो कुछ देखा है, उसमें कुछ देखा है, और जिससे जहां भी आत्मा की तदात्मता स्थापित हो सकी है वह, कुछ ले आई है। सरि सरिता, निर्झर पहाड़, सभी से उसने तदात्मता स्थापित की है, और सब से कुछ उपहार प्राप्त किया है। पावस के सजल मेघों से तो वह उऋण ही नहीं।

यही नहीं मानव के संघर्ष पूर्ण जीवन को भी उसने उपेक्षा की। उससे भी उसे कुछ अमूल्य तथ्य तथा प्रेरणायें मिली हैं। आ निराशयें, चिन्तायें, सम्वेदनायें, उसी मानव जीवन की देन हैं, जो म की बेचैन आत्मा को प्रकृति की सुरम्य भाव भूमि की ओर उछालतीं जहाँ उसे शान्ति का अनुभव होता है। आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती कितनी ही जटिल समस्याओं का हल, दुरूह प्रश्नों का उत्तर, अ चिन्तन की परिछाया में आप ही मिल जाता है बर्बरता, पशुता, जड़ संकीर्णता, स्वयं ही, आत्मचिन्तन की लहरों से वैसे ही सुदूर तीर पर फ दिये जाते हैं जैसे समुद्र की लहरों से शंख और घोंघे गम्भीर चिन्तन वातावरण में विश्व-भावना जागती है, विश्व-भावना ही नहीं, वह अनन्त भावना जो अपना विस्तार, किसी भी विस्तार के परे लेती ही जाती है उस विस्तार तक मानव के विस्तार की कौन सी वस्तु, कौन सी व्याख्या पहुँचती है! क्या वहाँ मानव, के अनुभूत किये हुए अन्धकार की व्याख्या जाती है, क्या वहां उसके प्रकाश की व्याख्या जाती है! क्या वहाँ उसकी आँखें ही कुछ अन्य नहीं हो जाती!

अनन्य-मानसा के मन की अब भी मिलने की नहीं। जहाँ उसका मन है, वहां उसकी स्वयं की अपनी भूमिका पहुँचने में सक्षम नहीं। वह न जाने अपने किस गीत में अब भी तल्लीन है। वह किसका गाया हुआ गीत है जिसको वह अब भी सुन रही है। उसे कौन गा रहा है, वही क सकती है, सम्भव है वह भी न कह सकती हो।

तेरा गीत सुना है

मैंने कहीं तेरा गीत सुना है।
क्या तूने कभी मंजरियों से मन की लहरें फेंकते,
उन रसाल, उन किंशुक, उन कचनारों के कुंजों में,
कोयल बन कर अपने मंजुल स्वर में गाया है,
जो अपनी सहज तान से ऊपर से सारे वितान को,
स्वरित कर अपना एक कंठ सा बना देती है,
और अपने स्वर-प्लावन में अपनी वासनाएँ घोल कर,
जड़ चेतन को उनमें डुबो देती है।

क्या तूने कभी किसी सरोवर के बीच,
सरोवर से लहराते हुए पंकज के किंजल्क में उतर,
मधु-लिप्सा से मधुकर बन कर गाया है,
जो अपने गीत की अजस्र एवं श्रुत-प्रिय गुंजार से,
अपनी स्नेह-मयी वे सम्वेदनायें प्रसारित करता है,
जिनसे पंकज भी अपना हृदय खोल देता है।
क्या तूने कभी पावस की मेघमाला के नीचे भी,
वह पपीहा बन कर गाया है,
जो अपनी रहस्य-मय पिपासा का गीत गाकर,
सजल मेघों को भी अपना सा तृषित बना देता है।
कहीं रसाल पर, सरोवर के तीर कादम्बनि के नीचे,
मुझे लगता है—तूने मेरा गीत गाया है।

—:*:—

अनन्य-मानसा ने कहीं यह गीत सुना है। उसे पता नहीं किसने उसे गाया है, परन्तु उसे लगता है जैसे गीत उसी का हो। यही अनन्त रहस्य है जिसके ढूँढ़ने के लिये अनन्य-मानसा बेचैन है। उसे इस रहस्य तक पहुँचते-पहुँचते ऐसे कितने ही गीत लिखने होंगे और उन गीतों को स्वयं रहस्य-मय गायक बन कर गाना होगा।

विनीत
अम्बिका प्रसाद दिव्य

साहित्य सदन
अजयगढ़ जिला पन्ना म० प्र०
१ मई सन् १९६२

विषय-सूची



अनन्य-मानसा

—:❀:—

अपना प्रकाश प्रदान करे

मैं एक लघु दीपक हूँ और तू एक विशाल सूर्य !
परन्तु तब भी मेरे में कोई आत्म-ग्लानि नहीं !
मेरे प्रकाश का तू अपहरण नहीं करता,
वरन अपना सारा विस्तृत प्रकाश—
मेरी क्षीण सी ज्योति में जोड़ देता है।
तेरे प्रकाश में मिलकर मेरा अल्प प्रकाश भी—
अनन्त आकाश के किस सुदूर अन्तःपुर तक—
पहुँच जाता है—मैं कह नहीं सकता।
मैं भी तेरा प्रकाश छीनता नहीं,
वरन अपना अल्प सा प्रकाश तेरे अनन्त प्रकाश पर—
श्रद्धा भाव से एक लघु फूल सा चढ़ा देता हूँ।
मेरी छोटी सी ज्योति इस तरह अनन्त में—
वैसे ही छलांग भरती है,
जैसे एक विशाल-काय अश्व पर एक छोटा अश्वारोही।
हे दीप्तिमान ! मैं अपने छोटे दीपक से—
तेरी भावभीनी आरती उतारता हूँ,
इस लिये नहीं, कि मैं तुझे तेरी पूर्ण सत्ता में देखूं,
वरन इस लिये कि मेरे लघु दीपक से—
तू मुझे देखे और अपना प्रकाश प्रदान करे ?

—:❀:—

मैं लिखता हूँ

—:*:—

मैं तेरे लिये कुछ नहीं लिखता,
अपने लिये भी मैं कुछ नहीं लिखता,
लिखने के लिये भी मैं कुछ नहीं लिखता।
मैं लिखता हूँ क्यों कि लिखने का बीज,
मेरे शरीर के आलबाल में कहीं पड़ गया है,
जो आकाश मे, जब प्रथम पयोद-माला आती है,
और अपने जीवन से मेरे अन्ततम को प्लावित करत
एक नवीन पादप सा अंकुरित हो उठता है।
मैं लिखता हूँ क्योंकि मेरे लिखने का पादप—
मेघों से जीवन पाकर अपने आन्तरिक उल्लास में—
नये नये किसलयों और पल्लवों से सम्पन्न होता है
मैं लिखता हूँ क्यों कि मेरे लिखने के पादप पर—
बसन्त ऋतु में मेरी कल्पनायें मंजरी बन कर खिल
और विश्व-वीणा के स्वर-खंड कोयलों के रूप में—
साकार होकर डाली से डाली पर उड़ते, कूकते हैं।
मैं लिखता हूँ क्यों कि ग्रीष्म की आँधियाँ—
मेरे लिखने के पादप को अपनी सबल ऊष्मा से—
तस्करों जैसा लूट कर शृङ्गार-हीन कर जाती हैं।
मैं लिखता हूँ क्यों कि मेरे लिखने का पादप—
ऋतु कुऋतु के चेतन प्रभावों से,
नई नई चेतन अनुभूतियाँ तथा सम्वेदनाये प्राप्त करत

—:*:—

कल्पना अमर हो जाय

—:*:—

जब मै एक कल्पना मात्र था,
मेरी आँखें आकाश के सुदूर तारों पर चमका करतीं;
और कभी प्रकाश पर तिमिर की रेखायें खींचकर—
कभी तिमिर पर प्रकाश की रेखायें खींच कर—
अपनी ही रूप-रेखा बनाया करतीं।
मेरा जीवन क्षुब्ध सागर की लहरों पर लहराया करता,
और कभी पवन के ऊपर पानी से—
कभी पानी के ऊपर पवन से चित्र बना बना कर—
मेरे भविष्य की परिकल्पना तैयार किया करता।
मेरी वाणी शून्य के अन्तःपुर में गूंजा करती,
और कभी निस्तब्धता पर तुमुल रागों की धारायें बहा—
कभी तुमुल रागों पर निस्तब्धता की धारायें बहा—
मेरे स्वर सरगम की योजना तैयार किया करती।
मेरा हृदय पृथ्वी के अन्तराल में स्पन्दन करता,
और कभी मिट्टी से निराकारता पर—
कभी निराकारता से मिट्टी पर मेरी मूर्तियाँ बनाता।
एक दिन अनन्त अतीत और अनन्त भविष्य की सन्धि पर—
वह कल्पना मेरे वर्तमान रूप में साकार हुई।
आज मेरी आँखों में आकाश के सारे तारे चमकते हैं,
मेरे जीवन में सारा सागर लहराता है,
मेरी वाणी में सारा आकाश बोलता है,
मेरे हृदय में सारी पृथ्वी स्पन्दन करती है,
मै कविता करता हूँ कि यह कल्पना अमर हो जाय!

—:*:—

एक बड़ा कवि

—:*:—

मै छोटे छोटे विषयों पर कविता लिखता हूँ।
मैं उन गगन-चुम्बी पर्वतों पर कविता नहीं लिखता,
जिनके समकक्ष खड़ा होकर अपनी अनुराग-भरी भुजा
मैत्री-भाव से उनके कंठ में नहीं डाल सकता।
मैं उन विशाल वृक्षों पर कविता नहीं लिखता,
जिनके सन्मुख खड़ा होकर वक्ष से वक्ष मिला कर—
मैं दो प्रेमियों जैसी भाव-भरी भेंट नहीं कर सकता।
मैं उन धन्य-भाग्या सुन्दरियों पर कविता नहीं लिखत
जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें राज-प्रासाद की आँखें बन क
मानव की आँखों का मूल्यांकन नहीं कर सकती।
मैं छोटी उन पर्णकुटियों पर कविता लिखता हूँ,
जिनकी ऊँचाई मेरी ऊँचाई से ऊपर नहीं जाती।
मै उन छोटे पादपों पर कविता लिखता हूँ,
जिनके फूलते हुए यौवन का उपहार—
ऊपर आकाश के आलिंगन को न दौड़ कर—
केवल उस ऊँचाई तक रहता है,
जितने पर मेरा स्पन्दनशील भावुक मानव-हृदय है।
मैं उन सुन्दरियों पर कविता लिखता हूँ,
जिनका सौन्दर्य मुझे सुन्दर बनाता है।
मेरी महत्वाकांक्षा महानता की सुश्रूषा नहीं करती।
मैं छोटे छोटे विषयों पर कविता लिखता हूँ,
छोटी छोटी कवितायें लिखता हूँ,
तब भी दुनिया मुझे एक बड़ा कवि कह दिया करती है

—:०:—

मैं न समझ सका

—:*:—

जब तू मेरे आंगण में आंधी बन कर आया,
और अपनी सारी सबलता के साथ—
मेरे आलिङ्गन के लिये अंधा सा दौड़ा,
मैं अपने कपाट बन्द कर भवन मे छिप रहा।
तू अपने सहज प्रेम का उपहार मुझे न दे सका।
जब तू ग्रीष्म का प्रबल मार्तण्ड बन कर निकला,
और अपनी सारी ऊष्मा तथा ताप के साथ—
मेरे स्वागत को अपनी भेंट लिये बढ़ा,
मैं अपने छप्पर के नीचे आँखें बन्द कर छिप रहा।
तू अपने तेज का उपहार मुझे न दे सका।
जब तू गरजता हुआ मेघ बन कर मेरे सन्मुख आया,
तब भी मैं अपने सुदृढ़ दुर्ग में छिप रहा,
और तू अपने जीवन का उपहार मुझे न दे सका।
जब तू प्रतिक्रिया भरा निराशा बन कर आया,
मैं अपने भवन में भी छिपा छिपा आहें भरने लगा।
जब तू चिन्ता बन कर सामने आया,
मैं अपने छप्पर के नीचे भी तेरे ताप से जलने लगा।
जब तू तरल आँसू बन कर आखों में आया,
मैं तुझे अपने सुदृढ़ दुर्ग में भी बैठ कर रोक न सका।
मैं समझ न सका, तू किस रूप में क्या उपहार लाता है।
तू रंगमंच पर कुछ और है नैपथ्य में कुछ और।

—:※:—

जीवन-चरित्र क्या लिखूं

—:※:—

मैं अपना जीवन चरित्र क्या लिखूं !
मैं अपने मे प्रगतिशील कोई प्रबल आंधी नही,
जिसने वन उववन के लघु एवं महान वृक्षों को—
हिला झुला कर उनके धन का अपहरण किया हो,
और अकारण ही उन्हे उखाड़ फेंका हो।
मैं अपने सपनों के परे बढ़ता हुआ—
किसी महासागर का भी अदम्य ज्वार नहीं,
जिसने किसी गगनचारी चन्द्र की सुषमा से—
अपना आकंठ मानस भर लिया हो,
और स्वयं सोपान सा अपने ही शरीर पर चढ़ता—
सद्यस्नात सा उसके नीचे खड़ा हो गया हो ?
मैं पावस का सजल श्याम-वर्ण कोई मेघ भी नही,
जो अपने जीवन की किसी रहस्यमय अन्तर्वेदना से
उद्वेलित हो, अपना भवन छोड़, निकल पड़ा हो,
और अपने लेटने को वियोगियों की शैया ढूंढ़ रहा
मैं कोई निर्जीव शुष्क मरुस्थल भी नहीं,
जिसने अपने अन्तरतल मे मरीचिकायें बसा रक्खी
और भूले भटके मृगों को अपनी ही पिपासा दे—
घट सा अपनी वालुका मे डुबो डुबो कर मारता हो।
मैं आंधी को देखता हूँ, ज्वार को देखता हूँ,
मैं मेघों को देखता हूँ, मरु को देखता हूँ।
मैं जिसे देखता हूं वही बन कर देखता हूँ,
यही मेरा जीवन-चरित्र है और यह गीत उसका चि

—:※:—

यह गीत नहीं

—:※:—

जब पृथ्वी पर बसन्त ऋतु आती है,
मुझे लगता है जैसे मेरे अन्तस्तल में भी—
उसके सौन्दर्य की एक भाव-भीनी लहर आगई हो !
उस लहर में किंशुक की फूली हुई डालियाँ—
नई नई कविताओं सी अपनी भावनाओं में बहती हुई—
मेरे सामने आ जाती है और मैं उन्हें—
पकड़ने के लिये बेचैन सा हो उठता हूँ !
उस लहर में फूले हुए कचनारों की छलकती हुई झाँकियां—
नई नई चित्रावालयों सी अपनी प्रदर्शनी करती हुई—
बह बह आती हैं और मेरी आँखें—
एक रहस्यमय उत्कंठा से उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं !
उस लहर में कोयलों की बोलियाँ,
नैसर्गिक संगीत की मंजुल ध्वनियों सी अपने में स्वयं उर्मिल—
बह आती हैं, और मेरे अन्तर के तारों से टकरा जाती हैं !
इस बसन्त में, मैं मलयानिल सा विहार करता हुआ—
वन-भ्रमण करता हूँ, और जब कभी किंशुक की—
कोई फूली डाल हाथ लग जाती है, उसे ले आता हूँ !
यह गीत नहीं, किंशुक की फूली डाल ही है,
जिसे मैं वन-भ्रमण करते हुए तोड़ लाया हूँ !

—:※:—

तेरे मेरे में क्या अन्तर है

—:*:—

तूने सारे जीवन कवितायें लिखीं,
और इतनी कवितायें लिख मारीं कि—
कल्पनायें भी उनके भार से बोझिल हो कर —
असमय ही जीर्ण शीर्ण सी हो गईं!
परन्तु तू एक भी कविता मेरी जैसी न लिख सका,
जिससे मैं तुझे अपने में भी व्याप्त देख सकता?
तूने सारे जीवन चित्र बनाये,
और इतने चित्र बना डाले कि—
मेघ-मालायें भी उनसे परास्त हो गईं,
और उन्होंने लज्जा से अपनी भित्तियाँ भी धो डालीं,
परन्तु तू एक भी चित्र मेरे जैसा न बना सका,
जिससे मैं तेरी धूमिल छाया या हंसते प्रकाश को—
अपने हृदय में किन्हीं रेखाओं में देख लेता!
तूने सारे जीवन गीत गाये,
और इतने गीत गा डाले कि—
आकाश में भी उनके लिये स्थान न रह गया,
और उनकी प्रतिध्वनियाँ लौट लौट कर आने लगीं
परन्तु तू मेरे जैसा एक भी गीत न गा सका,
जिससे मैं तेरी रागात्मिका-वृत्ति की अन्तर्ध्वनियों को
अपने भीतर भी किसी राग रागिनी में सुन सकता!
मेरे तेरे में क्या अन्तर है?
मुझे लगता है—तू सिद्ध नहीं, मैं प्रसिद्ध नहीं।

—:*:—

प्रसन्न हो लेता हूँ

—:*:—

प्रसन्नता ही तो जीवन की अमूल्य निधि है।
मुझे थोड़ी प्रसन्नता तब मिल जाया करती है,
जब अकस्मात अप्रत्याशित स्थान में—
किसी अनिन्द्य सुन्दरी से साक्षात हो जाता है,
और उसका शर्वरीश जैसा अमृतोपम सौन्दर्य—
अपने स्पर्श से मेरे मानस में ज्वार सा उठा देता है।
मुझे थोड़ी प्रसन्नता तब मिल जाया करती है,
जब प्रकृति की कोई मनोरम सुषमा—
रूप-गर्विता सी संसार की उपेक्षा सी करती हुई,
मुझे मेरी आँखों में अपना रूप देखती मिल जाती है।
मुझे थोड़ी प्रसन्नता तब मिल जाया करती है,
जब मेरी कोई महत्वाकांक्षा एक नवयौवना सी—
अपना बहुमूल्य उपहार यत्नपूर्वक आंचल में छिपा कर
मुझे देने को मुस्कराती हुई आ जाती है।
मुझे थोड़ी प्रसन्नता तब मिल जाया करती है,
जब मेरी कोई प्रशंसा किसी दिशा से—
उड़ते हुए किसी पक्षी सी आकर,
मेरे अहम के विशाल वृक्ष की किसी शून्य शाखा पर—
क्षण मात्र को बैठ जाती है।
मैं इस सारी प्रसन्नता को संचित कर—
अपने किसी गीत में भर लेता हूँ,
और उससे, जब चाहता हूँ, फिर प्रसन्न हो लेता हूँ।

—:※:—

मेरे गीत तब बनते हैं

—:*:—

मेरे गीत तब बनते है—
जब एक बार मैं उर्मिल सागर को देखता हूं और,
एक बार अपनी भावनाओं से उद्वेलित—
अपने रहस्यमय मानस को देखता हूं !
एक बार जब आकाश में अपने भवन बनाते हुए—
सजल श्याम मेघों को देखता हूं और,
एक बार अपने यौवन के रङ्ग भरे चित्रों को—
सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि पर उभरते देखता हूँ।
एक बार जब शून्य के अन्तस्तल पर—
उसके अपने स्वप्न सा साकार शर्वरीश को देखता हूं और,
एक बार अपने अन्ततम में आविर्भूत,
किसी सत्य के शिव और सुन्दर रूप को देखता हूं !
सागर की लहरें मेरे गीतों को जीवन देती हैं,
मानस की भावनायें मेरे जीवन को लहरें !
सजल श्याम मेघ मेरे गीतों का यौवन देते हैं,
यौवन मेरे गीतों को मादिरता एवं गति।
शर्वरीश मेरे गीतों को अपना सौन्दर्य देता है,
सौन्दर्य मेरे गीतों को संसार में अभिसार की प्रेरणा !
मेरे गीत तब बनते हैं—
जब, तब और जब में अन्तर नहीं रह जाता !

—:*:—



कौन सा प्रसून तेरा परिचय देगा

—:※:—

देखा ! इस पाटल के पौदे पर कैसा प्रसून खिला !
उसने मुख खोला नहीं कि अपने अन्तर्तम का,
महाकाव्य सा विश्व के सामने रख दिया।
सारा विश्व उसकी रङ्ग भरी अनुभूतियों से,
एक साथ ही अनुरंजित सा हो उठा।
उसने रसनाओं सी अपनी पंखुड़ियां खोली नहीं कि—
उसके अन्तःपुर मे गूंजते हुए मंजु मधुर गीत,
अपनी अमूर्त स्वर लहरी से आकाश को भर चले।
उसने हृदय खोला नहीं कि उसके अन्तस्तल के—
चित्रों की एक अनूप प्रदर्शनी सी सामने आ गई।
एक दो तीन कितने ही नव प्रसून—
उस कवि, चित्रकार एवं संगीतज्ञ की डाल पर खिले,
पर सब अपने विकास मे एक से ही।
मानव ? तेरा कौन सा महाकाव्य होगा,
जो इस प्रसून सा तुझे अभिव्यक्त कर देगा ?
तेरा कौन सा रहस्यमय गीत होगा,
जो इस प्रसून सा खिल कर तुझे गेय बना देगा ?
तेरा कौन सा चित्र इस प्रसून सा खिले गा,
जो तुझे अपने चित्र बनाये जाने योग्य बना देगा !
पौदे का एक ही प्रसून तो अपना परिचय दे लेता है,
तेरा कौन सा प्रसून तेरा परिचय देगा ?

—:※:—

जब तूने घूँघट खोला

—:*:—

जब तूने घूंघट खोला, चन्द्र हँसा तारे हँसे !
अंधकार एक ओर हट कर खड़ा हो गया,
और अपनी खोई हुई निधि सी टटोलने लगा !
दिशायें प्रतिस्पर्धा से अपनी ओर देखने लगीं।
सागर किसी आन्तरिक उद्वेलना से लहराने लगा,
जैसे अखिल सृष्टि का मानस उसी में समा गया हो !
मानव की संकलित महत्वाकांक्षायें—
तेरे वक्षस्थल पर खड़ी होकर आकाश को नापने लगी
मानव की इच्छायें तेरे कंठ में पड़ने के लिये—
पुष्पहारों की कल्पनायें कर कर के—
तरु विटप पर रङ्ग विरंगे प्रसून बन कर खिलने लगीं।
मानव की मनोकामनायें तेरे आलिङ्गन में—
समाधि का सुख देख मलय-बयार के साथ उड़ने लगीं।
मानव ने सब देखा पर सब में तुझे देखा।
मानव ने तुझे त्यागा पर तेरे ही लिये।
मानव ने संग्रह किया पर गृह भर भर कर तेरा ही।
तुझे अपने सौन्दर्य का अभिमान हुआ,
अभिमान के लिये तूने आलम्बन ढूंढ़ा !
सुन्दरी ! तूने अपनी ही रहस्यमय अभिव्यंजना के लिये
नर से प्रेम किया और तू नारी बन गई !

—:※:—

बात बन जाती है

—:*:—

मैं विद्वानो के सामने विद्वत्ता की बात नहीं करता।
मै उनके सामने उस गीता की बात नहीं करता,
जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेम की बांसुरी छोड़—
मुख से ही वह अपूर्व गीत गाया था,
जिसको सुन कर क्लीवत्व में भी वह पौरुष जागा,
जो गोपियो के प्रेम में स्वयं कृष्ण के रूप मे था।
मैं उस धम्मपद की बात नहीं करता,
जिसमें भगवान बुद्ध ने उस दर्शन का प्रतिपादन किया था,
जिससे बर्बरता ने फिर विश्व प्रेम की पद्धति ली,
और भगवान श्री कृष्ण की प्रेम-बांसुरी—
फिर संसार में अपने नये रूप मे नयी ध्वनि में बजी,
जो कभी केवल गोपियों के बीच ही बजी थी।
मैं उस मेघदूत की बात नही करता,
जिसमें एक महाकवि का सारा मानस ही—
प्रेम के एक अदम्य ज्वार में संकलित हो—
मेघ बन कर अपनी कल्पना की ओर बढ़ चला था।
मैं उन मूर्खों की बात करता हूं,
जो न गीता के गम्भीर ज्ञान को ही समझते है,
न धम्मपद के धर्म को, न कालिदास की कला को।
मैं विद्वानों के सामने मूर्खों की ही बात करता हूं,
परन्तु मेरी मूर्खता की बात ही—
विद्वानों के सामने विद्वता की बात बन जाती है।

—:*:—

बड़ा नहीं होने दिया

—:*:—

मै प्राय: कुछ बड़े बड़े नाम सुना करता हूं ।
मै नही कह सकता उनके प्रति श्रद्धा होती है —
या उनसे कुछ छिपा हुआ भय !
बड़प्पन के आकाश मे वे उन मेघों से छाये दिखते है,
जो सूर्य और चन्द्र के भी प्रकाश को दबा कर—
अपने शरीर की विद्युत रेखाओं से ही—
पृथ्वी को प्रकाश देना चाहते हैं—
और अपने ही अनुग्रह पर सब को जीवित रखना चाहते
बडप्पन के सागर में वे उस ज्वार से उठे दिखते हैं,
जो अन्य सभी लहरों की नौकायें सी उलट देते हैं,
और आप चन्द्र को चूमने के लिये बढ़ते हैं !
वे पृथ्वी पर उस गिरिराज हिमालय से खड़े दीखते है,
जिसके समकक्ष कोई अन्य गिरि खड़ा नही हो पाया !
और जो आप ही अकेला शून्य को शीश पर—
लिये हुए सा दीख पड़ता है ।
वे बड़े बड़े नाम आकाश में करतल ध्वनि के साथ गूंज
वे बड़े बड़े नाम सागर में लहरों के साथ उछलते हैं !
वे बड़े बड़े नाम पृथ्वी पर वायु के साथ दौड़ते हैं !
वे बड़े बड़े नाम ऐसे छोटे छोटे मनुष्यों के हैं,
जिन्होंने अन्य किसी को अपने से बड़ा नहीं होने दिया ।

—:*:—

तू दुनिया है

—:*:—

तू अपने रूप से सुन्दर है या मेरे शृङ्गार से ?
मैंने अपने मस्तक पर वह अरुण बिन्दी लगा ली है,
जो तेरे मंजुल मुख पर अरुणाभ बिखेर कर—
उसे प्रभात में खिले कमल सा कमनीय बना देती है।
मैंने अपनी आँखों में वह काजल लगा लिया है,
जो तेरी भ्रुकुटियों की भंगिमा को नीचे लाकर—
दोनों ओर से तेरे कटाक्षों में सबलता भरता है।
मैंने अपने अधरों पर वह लाली चढ़ा ली है,
जो तेरी मधुर स्मृतियों में घुल मिल कर—
निरन्तर पीयूष की वर्षा करती है।
मैंने कंठ में स्वर्ण का वह हार पहिन लिया है,
जो तेरे आकर्षण को आत्म-समर्पण कर—
तुझे कंचन से भी अधिक आकर्षक बना देता है।
मैंने तेरे सब कंकण किंकिण धारण कर लिये हैं,
जो तुझे अपनी स्वर-लहरियों से आच्छादित कर—
एक साकार रागिनी का रूप देते हैं।
मैं तेरी कंचुकी उतार डालूं तो तेरा यौवन,
मुझे उस उजड़े बन सा लगता है,
जिसे पतझड़ बर्बरता-पूर्वक लूट कर चला गया हो !
मै तेरा झिलमिलाता घूंघट अपने मुख से हटा दूँ तो,
तेरा मुख उस चन्द्र सा लगता है,
जिसमें पीयूष है परन्तु प्राण नही !
सुन्दरी ! तू दुनिया है।

—:*:—

सुन्दर लगता है

—:※:—

मुझे वह लघु तृण भी बहुत सुन्दर लगता है,
जो किसी चिड़िया की चंचु में दबा हुआ—
उसका एक नीड़ बनाने जा रहा हो !
चंचु से तृण को बीच मे दबाये हुये चिडिया—
अपनी दोनों आँखों से उसे ऐसा तौलती सी लगती है
जैसे तृण के एक भाग में भविष्य की वह योजना देखती
जो उसके नीड़ में आ रही हो,
और एक भाग मे अतीत का वह नैपथ्य देखती हो,
जो भविष्य के साथ अपना कथानक लेकर आ रहा हो
तृण कभी अतीत के भार से इस ओर झुक जाता है,
कभी भविष्य के भार से उस ओर !
चंचु का क्षीण दबाव वर्तमान सा उसे छोडता नही !
तृण को देख कर कुल-वधुयें सगुन शोधती हैं :—
वर्षा आधे श्रावण से होगी या आधे भाद्र से ?
मैं सगुन शोधता हूं कि चिड़िया का शिशु—
अधिक भविष्य लेकर आयेगा या अधिक अतीत !
पर मैं नही समझ पाता—
तृण के किस ओर भविष्य को देखूं किस ओर अतीत
जो मुझे बहुत सुन्दर लगता है उसी को देखता हूं !
सौन्दर्य में ही भविष्य की योजना है !

—:※:—

मुख पर घूँघट चाहिये

—:*:—

तेरे चित्र की ओर भी देखने में—
मुझे लज्जा की गम्भीर अनुभूति सी होती है।
जब मैं तेरी ओर देखता हूँ मुझे लगता है कि—
दुनिया हँस-हँस कर मेरी ओर देखती है,
परन्तु तब भी मैं उसकी आँख बचाकर—
तेरी ओर देख लिया करता हूँ।
जब मैं तेरी ओर देखता हूँ,
तेरे मुख का घूँघट मेरे मुख पर आ जाता है।
उसकी ओट से मै तुझे तेरे कटाक्षों से देख लेता हूँ।
जब मैं तेरे उन्नत वक्षस्थल पर—
अपनी महत्वाकांक्षाओं को चढ़ते देखना चाहता हूँ,
तेरी भविष्य से भरी कंचुकी मेरे वक्ष पर आ जाती है,
और बीच से कटी हुई पृथ्वी अपने दोनों गोलार्धों का,
रहस्य सा एक साथ ही मेरे सामने खोल देती है।
जब मुझे तेरा मधुर संगीत सुनने की उत्कंठा होती है,
तेरे कंकण किंकिण मेरे शरीर पर आ जाते हैं,
और उनके निनाद में तेरी बात सुन लेता हूँ।
दुनिया मेरी ओर नहीं देख पाती,
मैं दुनिया की ओर हँस-हँस कर देख लिया करता हूँ।
सुन्दरी! वह मेरे हँसने का मर्म क्या समझे!
तेरे देखने के लिये तेरे जैसा मुख पर घूँघट चाहिये!

—:*:—

मैं गाता हूँ

—:*:—

मैं गाता हूँ, निरन्तर गाता हूँ।
पर इस लिये नही गाता कि तुझे प्रसन्न करूँ।
इस लिये भी नहीं गाता कि तुझे गाकर रुलाऊँ।
गीत तो मेरी गति का सहज स्वर है,
जो अपनी लय से सदा निकलता ही रहता है।
सदागत वायु उसे अपने पंखों पर ले उड़ती है,
और आकाश उसे अपने तारों की भूलभुलैयों से निक
उसमे विविध ध्वनियों का सृजन करता है।
प्रत्येक तारा उसे अपनी उंगली के स्पर्श से—
एक सरगम में संयोजित कर मनोनीत बना लेता है।
पृथ्वी की सबल प्रबल आँधियाँ,
उस पर अपना एक तुमुल रंग-मंच बना कर—
विविध राग रागिनियों के रूप में नाचती हैं।
समुद्र की उर्मिल लहरें अपने आन्तरिक मनोवेगों से,
उसमें मूर्छनायें भर-भर उछलती और कूदती हैं।
पावस की मेघ मालायें अपने मानस की उद्वेलना से,
उसमें झूलों के आन्दोलन तथा अनंग के रंग देकर—
अपने मल्हार और विहाग बना बना कर अलापती हैं
बसन्त की मलय-बयारें अपने अंचल फैला कर—
उन्हें पकड़ती और उनमें मधु भरती हैं।
मेरी गति से स्वर निकलता है,
मेरे स्वर पर संसार की बांसुरी बजती है।

—:❀:—

अपना रूप देखता हूँ

—:*:—

मैं ऐसे मुकुर में अपना रूप देखता हूँ,
जिसमें मेरा प्रतिबिम्ब नहीं,
मैं स्वयं अपने रहस्यमय स्वत्व में दीख पड़ता हूँ।
मैं ऐसे घूँघट पर अपना मुख देखता हूँ,
जो अपने नैपथ्य के सौन्दर्य से मुकुर सा बन—
मेरे सौन्दर्य का अपनी पूर्ण सत्ता में—
साक्षात्कार कराता हुआ—
मेरे मुख पर चमकता है।
मैं ऐसी कंचुकि पर अपनी आँखें देखता हूँ,
जो अपने अन्तराल के यौवन से मुकुर सी बन—
मेरे यौवन का अपनी पूर्ण सबलता से—
आविर्भाव कराती मेरे तन पर खिलती है।
मैं ऐसे अलंकारों पर अपना रंग देखता हूँ,
जो अपने आधारभूत अंगों की आभ से मुकुर से बन—
मेरी आन्तरिक उद्वेलनाओं का—
अपनी मूक लहरों से अनुभव कराते हुए—
मेरे अंगों पर अनंग से दीप्तिमान होते हैं।
मैं रंगमंच का नहीं नैपथ्य का सौन्दर्य देखता हूँ।
मैं तन का नहीं अन्तर्तम का यौवन देखता हूँ।
मैं अंगों का नहीं आन्तरिक उमंगों का रंग देखता हूं।
मैं अपना रूप सौन्दर्य मे देखता हूँ।
मैं अपना रूप यौवन में देखता हूँ।
मैं अपना रूप आन्तरिक उद्वेलनाओं में देखता हूँ।

तू सुन्दर है या तेरा चि:

—:⊛:—

तू सुन्दर है या तेरा चित्र !
जब मैं तेरे चित्र में तेरी आँखों की ओर देखता हूं,
मैं उन्हें एक स्थिरता से देख लेता हूं,
और उनके अचल सौन्दर्य से अपनी आँखें भर लेत
परन्तु जब मैं तेरी आँखों की ओर देखता हूं,
उनसे सौन्दर्य की समुद्र जैसी लहरें आती हैं,
जो मेरी आँखों को पीछे फेंक कर चली जाती हैं,
और मैं अपनी लालसाओं की बालुका में—
पछाड़ खाकर गिरा सा लोटता रह जाता हूं।
जब मैं तेरे चित्र में तेरी मन्द स्मिति को देखता हूँ,
मैं उसे ऐसी निश्चिन्तता से पान कर लेता-हूँ,
जैसे कोई सरिता का कूल उसके जल का पान करे।
परन्तु जब मैं तेरे सस्मित मुख की ओर देखता हूं,
उससे हास्य की ऐसी सबल आँधियाँ सी छूटती हैं,
जो मुझे एक वृक्ष जैसा झकझोर झकझोर कर,
समूल उखाड़ सा देती हैं।
जब मैं तेरे चित्र में तेरे सौन्दर्य को देखता हूँ,
मैं तेरा मुकुर सा बन कर उसे देखता ही रहता हूँ।
परन्तु जब मैं तेरे सौन्दर्य से साक्षात्कार करता हूँ,
सुन्दरी ! तेरे मुख का घूँघट मेरे मुख पर पड़ जाता

तुझे देखा करता हूँ

—:*:—

मेघ ! मैं तुझे देखा करता हूँ और अपने को।
तुझे रोना ही होता है तो—
अपने सारे शरीर में आँखें ही आँखें कर लेता है—
और अपने को आँसुओं से ही बहा देता है !
मैं अपनी दो आँखों से अपनी आन्तरिक उद्वेलना का—
एक छोटा सा भी भाग नहीं बहा पाता,
और उसका बड़ा भाग शरीर ही में शेष रह जाता है !
तुझे हँसना भी होता है तो—
अपने सारे शरीर में मुख ही मुख कर के हँसता है,
और अपनी प्रसन्नता में आप बिखर जाता है !
मै अपने एक मुख से अपनी प्रसन्नता का—
एक छोटा भाग भी नहीं बिखेर पाता,
और उसका एक बड़ा भाग शेष ही रह जाता है !
तुझे जब बोलना होता है—
तेरा सारा स्वत्व वाणीमय हो जाता है,
और वाणी में ही अपनी सारी सबलता भर देता है !
मैं अपने एक कंठ से अपनी अनुभूतियों का—
एक छोटा भाग भी व्यक्त नही कर पाता,
और उनका एक बड़ा भाग भीतर ही रह जाता है !
उद्वेलनाओं का, प्रसन्नताओं का, अनुभूतियों का,
जो भाग शेष रह गया है मैं वही हूँ !

—:*:—

दुलहिन बन गई

—:*:—

तूने अपने सहज सुन्दर रूप पर संतोष न किया—
और अपनी दृष्टि शृङ्गार की ओर बढ़ाई।
वंचक पुरुष ने तेरी दुर्बलता समझी,
और उसने तेरे लिये शृङ्गार गढ़ा दिया।
उसने तेरे रंग के अनुरूप कंचन को ढूंढ़ निकाला,
और उसने तेरे अंग-अंग के लिये अलंकार गढ़ा दिये,
जिससे उसकी मनोभावनायें तेरे निकट पहुँचें।
तेरे मस्तक के लिये उसने बिन्दी गढ़ाई,
जिससे उसकी कामनाओं को तेरे मस्तक का स्पर्श मिले
और वे तेरी सुषमा में अपना गौरव जोड़ दें।
तेरी नासिका के लिये उसने बेसर गढ़ाई,
जिससे उसकी रसिकता को तेरे अधरों का रस मिले,
और वह तेरी सरसता में अपनी स्मिति जोड़ दे।
उसने तेरे श्रुति-युग्म के लिये कर्णफूल गढ़ाये,
जिससे उसकी वासनाओं को कपोलों की कोमलता मिले,
और उसमें वह अपनी भावुकता जोड़ दे।
उसने तेरे कंठ के लिये हार गढ़ाये,
जिससे उसकी आकांक्षाओं को तेरा आधार मिले,
और वह तेरी चपलता में अपनी मदिरता जोड़ दे।
कंकण किंकिणि सभी ने तेरे उर पुर पर चढ़ाई की।
सुन्दरी! तूने अपने सहज कुतूहल से शृङ्गार पहिन लिये
और तू नैपथ्य में पुरुष की दुलहिन बन गई।

—:o:—

तुझे ही देखूं

—:※:—

कोई दुर्वासा मुझे शाप भले ही दे दे—
परन्तु मैं चाहता हूँ कि—
अनन्यमानसा शकुन्तला सा मै तुझे ही देखू !
जिसके मन में अनन्यता है,
सारी दुनिया ही उसके लिये दुर्वासा है।
मैं जिस अनिन्द्य मुख को देखना चाहता हूँ,
उस पर घूंघट का पट दुर्वासा का ही वस्त्र है।
मैं जिन सस्मित आँखों को देखना चाहता हूँ,
उन पर दुर्वासा की रक्तिम आँखें आ जाती हैं।
मैं जिन सौरभान्वित अंगरागों को देखना चाहता हूँ,
उन पर दुर्वासा के शरीर पर चढ़ी भस्म आ जाती है।
दुनिया यह अभिशाप देती है—
मैं जिसे चाहता हूँ वह मुझे न भूले, मैं उसे भूल जाऊँ।
मैं उन सजल मेघों को भूल जाऊँ—
जिनसे तृषित चातक स्वाति बिन्दु प्राप्त करते हैं।
मैं उस शीतल शर्वरीश को भूल जाऊँ—
जिसे चकोर अपनी एकान्त समाधि में देखते हैं।
मेरी भी शाप चलती तो मैं दुर्वासा को शाप देता कि—
वह शाप देना भूल जाय।

—:※:—

कोई पत्र लिख रहा है

—:*:—

तेरे लिये कहीं कोई पत्र लिख रहा है !
प्रभात होने दे और सूर्य उस पत्र को लेकर—
तेरे सामने उपस्थित होगा !
उस पत्र में ही तेरे लिये एक नया दिन खुलेगा,
जिसमें प्रकृति की सारी रचना—
अपने किसी भिन्न ही रूप में प्रकट होगी।
वृक्षों के पत्तों पर प्रकाश के समुद्र लहरें लेते दिखेंगे,
प्रकाश के नीचे छायायें अपनी पर्णकुटी बनाती मिलेंगी,
पक्षी सूर्य की किरणों को तोड़ तोड़ कर—
अपने नीड़ों के लिये लकड़ी संचित करते मिलेंगे,
दिशा दिशा में नई नई आशायें रूप-गर्विता सी—
अपनी शृङ्गार-मंजूषा खोले अपना रूप सजाते दिखेंगी।
पत्र प्रभात में नहीं आया तो—
रजनी में चन्द्र उसे लेकर अवश्य ही आयेगा।
पत्र खुलते ही सारा आकाश अपनी सारी नक्षत्रावली से—
अपने किसी भिन्न परिवर्तन के साथ खुलेगा।
तारे तारे पर महत्त्वाकांक्षायें तैरती दिखेंगी,
नये नये बादल उनपर नया जीवन बरसायेंगे।
जिस पत्र की तुझे प्रतीक्षा है तेरे सामने है,
इस गीत को पढ़।

—:※:—

तू अप्रसन्न है

—:*:—

कभी कभी मैं तेरी बिखरती हुई प्रसन्नता को भी,
उपेक्षा से देखा करता हूँ,
और उसका एक घूंट भी पान नहीं करता।
मैं उस प्रभात की ओर देखता ही नहीं,
जो मुझे ढूंढ़ता हुआ अपने सुदूर देश से आता है,
और मेरे लिये अपने देश में पैदा हुई,
उस प्रसन्नता का उपहार लाता है—
जो मंजुल प्रकाश के रूप में सभी रूपों पर बिखर जाता है।
मैं उन हरे भरे तरु विटपों की ओर देखता ही नहीं,
जो अपने पत्र पत्र में अपने हृदय की,
वह छलकती हुई हरी हरी प्रसन्नता भर लाते हैं,
जो किसी प्रेमी के पत्र में भरी हुई आती है,
और प्रसूनों में संकलित हो मधुकरों का संकलन करती है।
मैं उन कोयलों के गीत सुनता ही नहीं,
जो कुहू कुहू करके उस कुहू के गीत गाती हैं,
जो अपन अन्तःपुर में चन्द्रमा के पालने में,
प्रसन्नता को लिटा कर झुलाया करती है,
और अपनी लोरियाँ आकाश में बिखेरा करती है।
जब मैं तेरी प्रसन्नता की उपेक्षा करता हूँ,
मुझे लगता है जैसे तू मुझ से अप्रसन्न है।

—:※:—

तेरी मुट्ठी में क्या है

—:*:—

अपनी मुट्ठी बन्द कर मुझ से पूछता है,
मैं क्या बताऊँ तेरी मुट्ठी में क्या है!
तेरी मुट्ठी में जीवन का लहराता वह सागर है,
जो तेरी उंगलियों की सांसों से निकल निकल कर,
पृथ्वी पर नदी निर्झरों में विभक्त हो,
अपने जीवन का सार्वभौम प्रसार करता है।
तेरी मुट्ठी में वे सजल मेघ घटायें हैं,
जो तेरे कर पल्लव के शीतल स्पर्श से ओवन बन कर
तेरी उंगलियों के मार्ग से छलक छलक कर,
सारे भूमंडल पर अजस्र वर्षा करती हैं।
तेरी मुट्ठी में वह अनन्ताकाश है,
जिसके लघु लघु कण तेरी उंगलियों से छूट छूट कर,
ऊपर चन्द्र और तारों के रूप में चमकते हैं,
और ज्योत्स्ना से छान छान कर पीयूष बरसाते हैं।
तेरी मुट्ठी में अनन्त ज्योतिर्मय वह सूर्य है,
जिसका प्रकाश तेरी अंजलि के रंध्रों से,
बिखर बिखर कर दिन और रात की डमरू सी बजाता
और विश्व के रहस्यमय अभिनय का संचालन करता है
अपनी मुट्ठी खोल और मुझे दिखा—
जो मेरी मुट्ठी में नहीं वह तेरी मुट्ठी में है।

—:*:—

मैं ऐसा गीत न गाऊँगा

—:*:—

मैं ऐसा गीत न गाऊँगा,
जिसे पावस की किसी सजल मेघ-घटा ने—
अपने जीवन की किसी पिपासा के ही भार से—
विह्वल हो मन्द मन्द स्वर में न गाया हो,
और जिसे किसी प्रणयी पपीहे ने,
उसी पिपासा मे डूब डूब कर न सुना हो—
और उसे अपना ही बना कर न दुहराया हो !
मैं ऐसा गीत न लिखूंगा,
जिसे किसी मरुस्थल की छलनामय मरीचिका ने—
अपनी अन्तस-ऊष्मा से सन्तप्त—
अपने बालुका-मय वक्षस्थल पर न लिखा हो,
और उसी अन्तस-ऊष्मा में झुलस झुलस कर—
किसी वियोगी मृग ने उसे अपनी बड़ी बड़ी आँखों से उसके—
बड़े बड़े अक्षर देखते हुए न पढ़ा हो !
मैं ऐसा गीत न सुनूंगा,
जिसे ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ के अर्ध प्रहर में—
अपने सपनों के सौन्दर्य में निमग्न हो चन्द्र ने न गाया हो,
और उसी सौन्दर्य की प्रतिमा बन कर—
किसी चन्द्रानना ने अचल होकर न सुना हो !
मैं ऐसा गीत न गाऊँगा जिसे मैं गाऊँ-तू सुने नहीं !

—:※:—

बढ़ता जाऊँ

—:*:—

मैं चाहता हूँ कि किसी एकान्त आरण्य में—
मैं किसी अपरिचित, उपेक्षित वृक्ष सा —
अपने ढङ्ग से टेढ़ा तिरछा होता हुआ—
अपने मार्ग पर आकाश की ओर बढ़ता जाऊँ !
मेरे चित्र मेरे उस वृक्ष को पल्लवित करें,
और उसमें से वे पत्र झरते रहें,
जो समय के थपेड़ों से परास्त हो पीले पड़ गये हों,
और वे किसलय ऋतु ऋतु पर फूटते रहें,
जिनमें भविष्य के अरुणोदय की लालिमा भरी हो !
मेरी कवितायें उस वृक्ष पर ऐसे प्रसून बन कर खिलें
जिन्हें कोई समीप आकर न भी देखे,
परन्तु वे अपनी आन्तरिक अभिव्यंजना को—
सुदूर आकाश की ओर लेती ही जावें !
मेरे गीत उस वृक्ष पर ऐसे फल बन कर लगें,
जो अपने पीयूष से प्लावित हो चन्द्र से पूर्ण हों !
टेढ़ा तिरछा बढ़ने में भी नृत्य की एक मुद्रा है जो
अपने ढङ्ग से बढ़ने में एक अभिनय है जो कला है
एकान्त वह नैपथ्य है जहाँ कला अपना रूप सजती है
जो बढ़ता है वह कलाकार है !
मैं चाहता हूँ मेरे वृक्ष से एकान्त आरण्य छा जाय !

—:@:—

कौन सी कविता पढ़ूं

—:*:—

इस कवि-सम्मेलन में कौन सी कविता पढ़ूं !
वही तो मेरी सब से अच्छी कविता है,
जिसको मैंने अभी लिखा ही नहीं।
चन्द्र रङ्गमंच पर आया और उसने वही कविता पढ़ी,
जिसको मैंने अभी लिखा ही नहीं।
पूर्णिमा की सुन्दर विभावरी में उसकी कविता,
उस अनिंद्य सुन्दरी सी आविर्भूत हुई,
जिसकी मैं यत्र तत्र काव्य-कुंजों में बैठ कर—
एकान्त समाधि लगा कल्पना ही किया करता हूँ !
प्रभात मंच पर आया और उसने वही कविता पढ़ी,
जिसको मैंने अभी लिखा ही नहीं !
अरुणोदय में उसकी मलय-बयार सी मदिर कविता—
उस यौवन की प्रथम लहर सी प्रकट हुई,
जिसको मैं भावनाओं के झूलों पर झूल झूल कर—
सपनों के शीतल कूलों पर ही देखा करता हूं !
सजलमेघ महाकवि से रंग मंच पर आये,
उन्होंने भी अपने गम्भीर घोष में वही कविता पढ़ी,
जिसको मैंने अभी लिखा ही नहीं !
पावस के अंचल में छलकती हुई उसकी सजीव कविता—
उस मल्हार की मधुर ध्वनि सी प्रकट हुई,
जिसकी तरंग के पीछे मैं मरु में कुरंग सा दौड़ता हूं !
मैं वही मधुर कविता सुनाऊँगा,
जिसको मैंने अभी लिखा ही नहीं।

—:*:—

क्योंकि मैं देखता हूँ

—:*:—

मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं देखता हूं।
मैं देखता हूं कि समुद्र की चंचल लहरें भी—
सूर्य और चन्द्र के प्रतिबिम्बों से—
अपने में प्रत्येक को आँखों का सहज सुन्दर रूप देकर
गम्भीर आकाश में कुछ गम्भीर रहस्य देखती हैं,
और जो देखती हैं अपने अन्तस्तल पर ही—
अपने आन्दोलनों से निरन्तर लिखती हैं!
मैं देखता हूं कि मेघों की अस्थिर घटायें भी—
इन्द्र धनुष के उपनेत्र लगा लगा कर—
नीचे पृथ्वी के रंग-भरे अभिनय देखती हैं,
और अपने वक्षस्थल पर चपला से चमकते अक्षरों में
अपने मधुरतम अनुभव लिखती हैं!
मैं देखता हूँ कि पृथ्वी के वन उपवन भी—
अपने पल्लव पल्लव से प्रकृति के परिवर्तन देखते हैं,
और अपने अंक पर अपने फूलों से—
अपनी सम्वेदनायें तथा अनुभूतियाँ लिखते हैं!
आकाश उन कविताओं से भरा पड़ा है—
जो पृथ्वी ने हँसते रोते उनके हृदय पर लिखी हैं!
पृथ्वी उन कविताओं से भरी पड़ी है—
जो आकाश ने अपने को मथ कर उस पर लिखी हैं!
मैं देखता हूं क्योंकि मैं लिखता हूँ!

—:⊛:—

कुछ न दिया

—:*:—



तू मेरे सामने मेघ बन कर आया,
और तूने अपनी उदारता का कोश सा—
मेरे लिये खोल दिया !
सारा जल मेरे लिये ही बरसाया !
परन्तु मैं अपने घट में तेरी एक बूंद भी न भर सका !
सारा जल कहीं सरोवरों में भर गया,
कहीं सरिताओं और निर्झरों से बह गया।
मैं फिर तेरी अनुग्रह की प्रतीक्षा करने लगा।
तू शरद निशा में शर्वरीश बन कर मेरे सामने आया,
और तूने ज्योत्स्ना के अम्बर में बँधा हुआ—
अपना सारा सौन्दर्य मेरे लिये खोल दिया,
परन्तु मैं एक घूंट भी तेरे पीयूष का पान न कर सका !
वह कहीं सोये हुए वृक्षों के पल्लवों में भर गया,
कहीं समुद्र की लहरों में जाकर बिखर गया।
मैं फिर तेरी ओर सतृष्ण दृष्टि से देखने लगा।
तू फिर और उदार हो सुन्दरी बन कर आया,
और तूने अपना सारा जीवन, यौवन, और सौन्दर्य—
मेरे लिये मेरे सामने खोल दिया,
परन्तु सुन्दरी की भी सारी छवि,
मेरे परिरम्भन के बाहर छलक गई !
छली ! तूने सब कुछ देकर भी अपना कुछ न दिया।

—:※:—

तेरे कटाक्ष नहीं देखत

—:*:—

मैं तेरी आँखों ही से तेरे कटाक्ष नहीं देखता,
वरन तेरी खिलती हुई दंत-पंक्ति से —
तेरी ग्रीवा की प्रत्येक मोड़ से—
तेरी उंगलियों की मूक मुद्राओं से —
तेरे घूंघट के आरोह अवरोह से—
तेरे अंचल के यौवनोन्मुख आन्दोलनों से—
तेरे ये सौन्दर्य में तैरते हुए कटाक्ष देखता हूँ।
तेरी यह मधुर वाणी तेरे मुख ही से नहीं सुनता,
वरन धनुष सी चढ़ी हुई भृकुटियों से—
शून्य में अपने रहस्यमय गीत सी लिखती आँखों
तेरे अंग अंग की प्रत्येक भाव-भंगिमा से—
वीणा के प्रत्येक तार से निकलती सी सुनता हूं।
मैं तेरा यौवन तेरे रूप ही से नहीं देखता,
वरन तेरी देह से झलकती हुई छलनामय छाया से
तेरी अनुपस्थिति में तेरी बसी हुई कल्पना से—
शशि की किरण-किरण से सुधा सा बरसता देखत
तेरी भुजाओं में भी सबल भाव हैं—
तेरे कटि में भी आँखों के चपल कटाक्ष हैं—
तेरे चरणों में भी अव्यक्त के स्पष्ट उच्चारण।
तेरे अंग अंग में सर्वाङ्ग का स्वत्व है।
सुन्दरी! तू विश्व-भावना है।

—:*:—

कोई धर्म-प्रवर्तक न आवे

—:*:—

ऊपर अनन्त आकाश खुला हुआ है,
जिसमें एक से एक दीप्तिमान तारे भरे हुये हैं !
सूर्य इतना चमकता है कि अपनी चमक से—
सारे आकाश को ही एक सूर्य सा बना देता है।
चन्द्रमा इतना चमकता है कि सारे आकाश में—
चन्द्र ही चन्द्र से बिखरे दिखते हैं।
तब भी क्या तू अपना प्रकाश मेरे तक नहीं पहुँचा सकता—
या मेरी दो आँखें तेरी किन्हीं दो आँखों को—
ढूंढ कर अपने को चार नहीं कर सकतीं ?
सारा आकाश एक विशाल कंठ सा खुला हुआ है,
जिसमें अनन्त वाणियाँ कहीं मूक कहीं तुमुल हैं,
तब भी क्या तेरी कोई वाणी मेरे तक नही आ सकती—
या मेरे दो कान तेरे कोई दो शब्द नहीं सुन सकते ?
मैं चाहता हूं मेरे तेरे बीच कोई अन्य न आवे !
जो भी बीच में आयेगा,
उसकी असित छाया मेरे पर पड़ेगी या तेरे पर।
चन्द्र ग्रहण लगेगा या सूर्य ग्रहण !
सारे खुले हुये वातावरण पर एक आवरण पड़ जायेगा।
मैं चाहता हूँ मेरे तेरे बीच—
मेरा या तेरा कोई धर्म-प्रवर्तक न आवे !

—:*:—

थोड़ा महत्व घट गया

—:※:—

मैं सोचता था मेरे बिना यह संसार कैसे चलेगा !
यह सूर्य जो मेरे प्रकाश से प्रकाशवान है—
क्या मेरे बिना अपने प्रकाश की कल्पना भी कर सकेगा ?
यह चन्द्र जो मेरे सौन्दर्य से अपनी ज्योत्स्ना पाता है,
क्या मेरे बिना भी सुन्दरियों के मुख का—
कवियों की कृतियों में उपमान बना रहेगा ?
क्या ये तारे जो मेरी इहातीत भावनाओं से दीप्तिमान हैं—
मेरे बिना भी अपनी प्रसन्नता लुटाते रहेंगे ?
क्या यह सागर जो मेरे आन्तरिक उल्लास से—
अपनी लहरों में निरन्तर हंसता रहता है,
मेरे बिना भी अपना अट्टहास बिखराता रहेगा ?
नहीं ! नहीं ! गर्व से कहता हुआ मैं कुछ देर को सो गया
जब जागा मैंने देखा मेरे साथ न सूर्य सोया था न चन्द्र !
तारे भी अपनी सुषमा छलका रहे थे,
सागर भी अपनी अन्तर्भावनाओं से उछल कूंद रहा था !
प्रकृति पूर्ववत अपनी शृङ्गार-मंजूषा खोले हुए—
अपने कुछ अवांछनीय शृङ्गार उतार कर उसमें रख रही थी
तथा कुछ नये धारण कर रही थी ।
कुछ देर ही सोकर मैंने कुछ खो दिया—
जागकर मैंने देखा कि मेरा थोड़ा महत्व घट गया था !

—:※:—

असुन्दर हो गया है

—:*:—

कभी कभी तेरा सौन्दर्य भी मुझे नहीं लुभाता,
कभी कभी मुझे उस अनिन्द्य सुन्दरी का,
वह अनिन्द्य मुख भी आकर्षित नहीं करता,
जिससे दूज का चन्द्र भी अपना दीपक लेसने आता है,
और अपनी पूर्णता में उसका ही उपमान बनता है।
कभी कभी मुझे पावस की वे घटायें भी नहीं सुहातो,
जो सर्वरीश के मुख पर कभी खुल कर कभी मुंद कर,
घुंघट का अभिनय करती हैं,
जो सजल घट शीश पर रक्खे हुए किसी पनघट से,
लौटती हुई सुन्दरी के मुख पर झूलता है।
कभी कभी मुझे वे रसाल मंजरियां भी नहीं भाती,
जो किसी रमणी की चित्रित कंचुकी सी,
अपने में भरी और कसी हुई, आँखों को भरती हैं।
कभी-कभी कितने ही लता बेलों के अलंकार,
मेरी उपेक्षा से विप्रलब्धाओं के शृङ्गार जैसे,
पृथ्वी पर ही झर झर कर कुम्हला जाते है।
जब कभी तेरा कोई सौन्दर्य मुझे आकर्षित नहीं करता,
और मैं अपनी किसी ध्वनि में तेरी ओर देखता नहीं,
मुझे स्वयं ही लग उठता है—
मेरा अन्तर्तम असुन्दर हो गया है।

—:※:—

मैं ही एक मूर्ति हूँ

—:*:—

अपने मन्दिर में मै, ही एक मूर्ति हूँ,
जिसकी मै अहर्निश भक्ति भाव से पूजा करता हूँ
परन्तु मै अपनी मूर्ति को वे प्रसून नहीं चढ़ाता,
जो वन उपवन में ऋतु ऋतु पर खिलते हैं,
और अपनी डाल से प्रथक होते ही कुम्हला जाते हैं
मैं विविध कामनाओं की डालियों पर खिलते हुए—
आशाओं के वे रङ्ग बिरंगे प्रसून चढ़ाता हूँ,
जो प्रथक होकर डालों को ही सुखा देते हैं,
परन्तु आप पूर्ववत विकासमय दीख पड़ते हैं।
मैं अपनी मूर्ति का उस जल से अभिषेक नही करता,
जो मेघो के मानस से उद्वेलित होकर बरसता है,
और धरा की शुष्कता से सूख जाता है।
मैं उस जल से अभिषेक करता हूं,
जो मेरे मानस से आर्द्र हो कर बरसता है,
और पृथ्वी की शुष्कता पाकर और आर्द्र होता है।
मैं अपनी मूर्ति की उस दीपक से आरती नहीं उतारता
जो दुनिया की आंधियों से बुझ जाता है,
मैं आत्मचिन्तन की उस ज्योति से आरती उतारता हूँ
जो आंधियों और बवंडरों में और सबल होती है।
मैं अपनी मूर्ति से यही वरदान मांगता हूँ,
कि कोई मूर्ति-भंजक उसे तोड़ न दे।

बात अच्छी नहीं लगती

—:※:—

कभी कभी मुझे तेरी कोई बात अच्छी नहीं लगती ।
कभी कभी मुझे तेरी वे रातें भी अच्छी नहीं लगती,
जिनमें शरद-शर्वरीश अपने सम्पूर्ण वैभव से—
मेरे भवन को ऐसा कंठ तक भर देता है,
जिससे वह सागर जैसा फिर कभी खाली न हो ।
कभी कभी मुझे तेरे वे प्रभात भी अच्छे नहीं लगते,
जिनमें अरुणोदय अपनी सम्पूर्ण अरुणिमा से—
मेरे वन उपवन को ऐसा अनुरंजित कर देता है,
जिससे उनका यौवन उस जैसा ही अरुणाभ बना रहे ।
कभी कभी मुझे तेरी वे मेघ घटायें भी अच्छी नहीं लगतीं,
जिनके सजल श्याम सौंदर्य को देखकर—
मेरा मानस भी पपीहा जैसा ही प्यासा हो उठता है,
और संसार को अपने प्यासे प्यासे गीत सुनाता है ।
कभी कभी मुझे तेरी वह मलय-बयार भी अच्छी नहीं लगती,
जिससे मेरी कवितायें भी प्यार करती है,
और उसके साथ अभिसार को निकलती हैं ।
जब मुझे तेरी कोई बात अच्छी नहीं लगती,
मैं तत्काल समझ जाता हूँ—
मैं तुझे अच्छा नहीं लगता ।

—:※:—

बड़ा भयंकर रूप है

—:*:—

तेरा बड़ा भयंकर रूप है।
तेरे आँखें भी तो नहीं न आँखों के कोई प्रतीक हैं।
इसी लिये जब तू मेरी ओर बढ़ता है,
अन्धे सा अंधाधुन्ध बढ़ता ही जाता है,
जैसे समुद्र की कोई अति क्षुब्ध लहर आ रही हो!
तेरे कान भी तो नहीं, न किसी की सुनता है,
और इसीलिये अपनी गर्जना से बधिर सा आता है,
जैसे बादल गरजता आ रहा हो।
तेरे मुख भी तो नहीं जिससे कुछ बोले,
और इसी लिये मूक सा मन में शब्द भरे आता है,
जैसे स्वयं आकाश नीचे उतर रहा हो।
तुझे देखकर मेरी आँखें अपनी ओर लौट आती हैं,
मेरी वाणी बोलने का साहस नहीं करती,
मेरे कान तेरे शब्द सुनना नहीं चाहते,
स्वयं भयंकरता सा साकार होकर—
जब तू मेरे सामने आता है,
हे भयंकर मैं! तुझे देखकर रो देता हूँ।
परन्तु जब मैं रोने लगता हूँ तू हंस देता है,
और तुझे सुन्दर देख कर मुझ भी हँस आता है।

—:❀:—

भेज तो सही

—:*:—

तू अपने सजल मेघों को भेजना चाहता है न !
उन्हें तू भेज तो सही।
मैं उन्हें अपनी पीठ पर लादकर—
जहां तू चाहे गा उठता बैठता ले चलूं गा,
मुझे उनके भारी बोझ का भय नहीं !
तू अपनी धूल से बोझिल आंधियों को भेजना चाहता है न !
उन्हे तू भेज तो सही !
मैं उन्हें अपने पुष्ट कंधों पर बैठाल कर—
जहां तक तू चाहे गा उड़ता हुआ ले चलूं गा।
मुझे उनकी धूल से धूसरित होने का भय नहीं,
उनके बोझ से झुकने का भी भय नहीं !
तू चिन्ताओं से भरी भावनाओं को भेजना चाहता है न !
मैं उन्हें हँसता खेलता शिशु सा गोद में ले चलूं गा।
मुझे उनकी मलिनता का भय नहीं,
उनके भारीपन का भी भय नहीं।
तू स्वयं आना चाहता है क्या ?
तू मेरे आंगण में आ तो सही।
मैं तुझे भी अपने शीश पर बैठाल कर ले चलूं गा।
मेरे सिर पर बोझ नहीं तो यह—
जीवन ही मुझे बोझ सा लगता है।

—:※:—

भावों में उससे कम नहीं

—:*:—

जब मेरे मानस में सागर भरा हुआ है,
तब वह सागर जैसा ही क्यों लहरें न ले,
और सौन्दर्य के आकर्षण से शर्वरीश के साथ नाचे,
वाणी के आकर्षण से तारों से तार मिलावे ?
मेरे मन में जब पावस की मेघ-मालायें उठती हैं,
तब वह मेघ-मालाओं सा ही क्यों न उठे,
और यौवन के खिंचाव से पहाड़ों पर उतरे,
मयूरों के मंजुल कंठों से माननियों की मनुहारें करे,
और अपने जीवन के पुष्प-हार उनके गले में डाल दे
मेरी श्वासों में जब मलय-बयार भरी है,
क्यों न वे मलय-बयार सी ही वन-उपवन में विचरें,
खिलती हुई वासन्ती मंजरियों का आलिंगन करें,
उनका छलकता हुआ मधुर मकरंद पान करें,
उनके पराग से अपना अंगराग बनावें,
और मधुकरों के गुंजन से अपने मन की बात,
राग-रागिनियों में भर उनके मन में डाल दें ?
मेरा मानस लहरें लेता है और बहुत बड़ी बड़ी !
मेरा मन मेघों सा ऊपर उठता है और बहुत ऊंचे !
मेरी श्वासें मलय-बयार सी उड़ती हैं और बहुत भरी
मैं सब से छोटा हूँ पर भावों में उस से कम नहीं !

—:❀:—

मैं तेरा नाम न लूंगा

—:*:—

मैं तेरा नाम न लूंगा ।
मैं तेरे तीर पर तीर जैसा ही खड़ा हूँ ।
तू सागर बन कर अपनी लहरों में भर भर—
अपने मधुर मधुर चुम्बन मेरी ओर भेज ।
मैं अपनी भुजायें बढ़ाकर उनका आलिंगन करूंगा,
परन्तु यह न कहूंगा कि तू सागर है ।
मैं तेरी भूमि पर भूधर जैसा ही खड़ा हूँ !
तू सजल मेघ बन कर अपनी श्याम घटाओं में भर भर—
अपने जीवन की स्वप्निल कामनायें मेरी ओर भेज
मैं उनसे अपने को सरोवर जैसा भर लूंगा,
और उनकी उद्वेलनाओं का मधुर अनुभव करूंगा,
परन्तु यह नहीं कहूँगा कि तू मेघ है !
मैं तेरे उपवन में एक विटप जैसा ही खड़ा हूँ !
तू मलय बयार बन कर अपने अंचल में भर भर—
अपने यौवन के मदिर मदिर उद्‌गारों को भेज !
मैं तेरी चेतन सम्वेदनाओं का स्वागत करूँगा—
पर यह न कहूँगा कि तू मलय-बयार है !
तू सागर नहीं, तू मेघ नहीं, तू मलय-बयार नहीं ।
तू सागर में मेघ है, मेघ में मलय-बयार—
मलय-बयार में अपना एक रहस्यमय अनिर्वचनीयउद्‌गार
तेरा नाम ढूंढ़ते, मैं अपना नाम भी भूल जाता हूँ ।

—:*:—

आदि कवि हूँ

—:*:—

जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ,
मुझे लगता है जैसे मैं ही आदिकवि हूँ।
मैं भूल जाता हूँ कि सागर में पहली लहर कब उठी,
और उसने अपनी संकुचित सीमायें लांघ कर—
कब चेतन मानव के आन्दोलन-शील हृदय को स्पर्श कि
मैं भूल जाता हूँ - मेघ की प्रथम घटा कब उठी,
और शून्याकाश पर वह प्रथम यौवन सी कब चढ़ी,
कब उसने अपने पहले मल्हार और बिहाग गाकर—
चेतन जगत की रागात्मिका वृति को जगाया।
मैं भूल जाता हूँ—शर्वरीश की प्रथम ज्योत्स्ना ने,
कब पृथवी पर अपना नैसर्गिक सौन्दर्य उतारा,
कब उसने अपना पहला बवंडर तैयार किया,
और उसे सुन्दरी का रूप देकर स्नेह की समस्या खड़ी क
मेरे में जो लहर आती है मुझे लगता है,
सागर की वह पहली लहर है।
मेरे में जब कोई मेघ घटा उठती है मुझे लगता है,
वह मेघों की पहली ही घटा है।
जब मैं किसी सुन्दरी को देखता हूँ मुझे लगता है,
वह शर्वरीश की पहली ही ज्योत्स्ना है !
मेरा जब कोई गीत बन जाता है मुझे लगता है,
मैं ही इस पृथ्वी का अन्तिम कवि हूँ।

—:*:—

तेरा क्या नाम रख लूँ

—:*:—

तू ही कह तेरा क्या नाम रख लूँ ?
क्या तुझे विराट कहने लगूँ ?
परन्तु विराट के साथ एक ऐसी कहानी जुड़ी है,
जो तुझे वामन से भी छोटा बना देती है।
वामन कहने लगूं तो तू विराट से भी बड़ा दिखता है।
कोई कहता है तू बिना आँखों के देखता है,
परन्तु मैं देखता हूँ—तूं एक विशाल आंख ही है।
कोई कहता है तू बिना वाणी के बोलता है,
परन्तु मैं देखता हूँ—तू एक वाणी ही है।
कोई कहता है तू बिना कानों के सुनता है,
परन्तु मैं देखता हूँ—तू एक विशाल कान ही है।
तू आदि के परे है, अन्त के परे है, अनन्त के परे है—
तब फिर किस नाम से तुझे अपना सा बना लूं।
अपना सा बना कर क्या तेरा नाम जपूं ?
तू मेरे सामने है मैं तेरे सामने हूँ।
मैं नही चाहता मेरे तेर बीच कोई व्याख्याता आवे।
उसकी असित छाया ही तो मेरे ऊपर पड़ेगी।
उसकी असत्य भावनायें ही तो तुझे असत्य बनावेंगी।
तू है तो तेरा नाम "है" है, नहीं है तो "नहीं" है।
परन्तु "है" दोनों अवस्थाओं में साथ है।
तू है तो तेरा नाम क्या नहीं है, क्या रख लूं ?
जिसका नाम नहीं उसकी अनुभूति ही तू है।

—:*:—

तेरी प्रशंसा करता है

—:*:—

विश्व तेरी प्रशंसा करता है ।
तू प्रकृति की एक अभूतपूर्व रचना है ।
आकाश में तेरे जैसा कोई तारा भी तो नहीं,
जो जन समूह के इस तरह तार खींच सके कि—
तेरे मनोनुकूल वह रंग मंच पर कठपुतलियों सा नाचे
चन्द्र में भी तो तेरे जैसी एक भी कला नहीं,
जो आप बिना घटे संसार का प्रकाश घटा दे,
आप बिना बढ़े संसार का गौरव बढ़ा दे ।
भुवन-भास्कर सूर्य में भी तो वह प्रतिभा नहीं,
जो अंधकार पर इतना नियंत्रण रख सके कि,
अपनी अनुपस्थिति में भी वह अपने कोई,
मलिन वासनाओं के चित्र संसार को न दिखा सके ।
समुद्र में भी तेरे जैसा जीवन कहां,
जो अपने मानस की उत्ताल लहरों पर ही बैठ कर—
अपनी कल्पनाओं के कक्ष से कक्ष तक दौड़ सके ।
तू एक सबल शासक ही नहीं शासन का उपासक है ।
प्रशंसा पर तेरा जन्मसिद्ध अधिकार है ।
तू अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होता है न !
पर मैं तेरी प्रशंसा तब करूंगा,
जब तू अपनी प्रशंसा से अप्रसन्न होगा ।

एक कहानी बनाना है

—:*:—

मैं राजा हूँ और तू मेरी रानी,
पर इसलिये नहीं कि हम दोनों राज प्रासाद में रहें,
और तू अपनी स्नेह भरी आँखों में—
अपने यौवन का ज्वार दीप-शिखा सा प्रज्वलित कर—
मेरी भाव-भीनी आरती उतारती रहे,
और मैं तेरे इष्टदेव सा वरम्ब्रूह होकर—
तुझे प्रेमालिंगन के मधुर वरदान देता रहूँ!
हमें इस पृथवी पर एक कहानी बनाना है,
जिसमें तुझे कभी आंसुओं की नदी बन कर बहना होगा,
और मैं उसके कूल पर खड़े हुए वृक्षों सा—
अपने कर-पल्लवों से तेरे आंसू पोंछू ंगा,
और भावना की मूलों से उनका भार बटाऊं.गा!
हमें इस वसुधा पर एक कहानी बनाना है,
जिसमें मुझे कभी ग्रीष्म की झंझाओं से—
वन-उपवन सा अपात होकर रहना पड़ेगा
और तुझे कितने ही परिवर्तनों की पछाड़े खाकर—
पावस की सजल कादम्बिनि बन कर बरसना होगा!
सौन्दर्य में जौहर की ज्वालायें चमकती हैं,
यौवन में जीवन की विषमतायें शरीर पर उभरती हैं।
सौन्दर्य और यौवन कहानी के प्रमुख पात्र हैं।
हमें एक कहानी बनाना है,
जो पृथ्वी पर जीवित रहेगी।

—:*:—

तेरा ही चित्र बनाता रहत

—:ж:—

मैं निरन्तर तेरा ही चित्र बनाता रहता हूँ।
तू एक बड़े आडम्बर से सामने आता है,
परन्तु मैं शीघ्र ही ढूंढ़ लेता हूँ।
तू अपने अम्बर में कहां अपना मुख छिपाये है?
जब पावस की सजल मेघ घटायें उठती हैं,
और घटा घटा पर प्रथक रंगमंच सजा दिखना है,
मैं तेरी आंखें वहां देख लेता हूं,
जहाँ प्यासा पपीहा तेरी ओर देखता हुआ—
तेरे नीचे नीचे तेरी आँखों से आँखें मिलाता हुआ
जब शरद ऋतु आती है और तू—
ज्योत्स्ना के घूंघट में अपना मुख छिपा कर आता है
मैं तेरा अधर-सुधा-रस वहां ढूंढ़ लेता हूं,
जहां तेरे पर चकोर अपनी दृष्टि गड़ाती है!
जब अनन्त मंजरियों की चूनर ओढ़े—
तू बसन्त के रूप में सामने आता है,
मैं तेरी मधुर मधुर स्मिति वहां ढूंढ़ लेता हूं,
जहां कोयल बैठकर तेरी तान से तान मिलाती है।
जब मैं तुझे ढूंढ़ ढूंढ़ कर तेरा चित्र बना लेता हूं,
मुझे इतनी प्रसन्नता होती है,
जैसे मैंने अपना ही चित्र बना लिया हो।

—:ж:—

मेघ-माला घिर आई

—:※:—

आकाश में सजल मेघ माला घिर आई !
सी मेघमाला, जिसमें न कोई उभरे हुए चित्र—
न कोई विकासशील तैरती हुई कोमल कल्पनायें !
सारे वातावरण में एक धूमिल निस्तब्धता सी छा गई—
जैसे मध्यान्ह में ही गो धूली लौट आई हो !
सूर्य ने अपने ऊपर लगा हुआ ग्रहण सा—
किसी अज्ञात प्रतिक्रिया से जैसे पृथवी पर फेंक दिया हो !
वायु भी किसी मानसिक उदासीनता से—
ऐसी अचल सी हो गई जैसे कोई मानिनी नायिका—
अपना सारा काम काज बन्द कर घर में बैठ रही हो !
वृक्षों ने भी अपने कर पल्लवों के आन्दोलनों से—
उसकी मनुहारें करना छोड़ दिया !
चील्हें सुदूर व्योम में अपने पंखों का बिस्तार करती हुई—
ऐसे उड़ने लगीं जैसे मकड़ियाँ चेतन विचारों को पकड़ने के लिये—
अचेतन काल-तन्तुओं के जाल बुन रही हों !
इस विचित्र सी रूप-मुद्रा में भी प्रकृति का—
एक अति मनोरम चित्र मेरे सामने आया।
मुझे लगा जैसे प्रकृति माता ने स्तन-पान कराने के लिये—
अपनी चेतन सृष्टि को जो सारे दिन खेलते खेलते थक गई हो—
सस्नेह गोद में ले अपने अंचल से ढाक लिया हो !

—:※:—

वही मेरा है

—:*:—

समुद्र को अपने जीवन से बहुत चिढ़ है,
क्योंकि उसमें जीवन ही जीवन भरा है।
वह चिढ़ से अपने जीवन को मेघों द्वारा—
पृथवी के उन सुदूर कक्षों तक फेंकता है,
जहाँ मरुस्थल हों उसे पी जायें,
परन्तु सरिताओं द्वारा वह फिर आ जाता है।
सूर्य को अपने प्रकाश से बहुत चिढ़ है,
क्योंकि उसमें प्रकाश ही प्रकाश भरा है।
वह अपने प्रकाश को आकाश के अन्त तक फेंक
जहाँ से वह फिर लौट कर न आवे,
परन्तु तारे तारे से प्रतिफलित होकर वह —
फिर उसी के पास लौट कर आ जाता है।
रजनी को अपने अंधकार से बहुत चिढ़ है,
क्योंकि उसमें अंधकार ही अंधकार भरा है।
वह उसे सर्वत्र बिखेरती रहती है,
परन्तु सब संकलित होकर फिर उसी में आ जाता
मुझे अपने जीवन से बहुत प्रेम है,
क्योंकि उसमें सूर्य का प्रकाश है, रजनी का अंधका
और समुद्र का जीवन।
परन्तु जितना जीवन चला गया वही मेरा है।

—

मानव हो जा

—:*:—

सौन्दय एक किसी को सुन्दर बनाता है,
और उसको अत्यन्त असुन्दर —
जिसकी आँख दैवात उस पर पड़ जाती है।
इन्द्र की आँख अनन्य सुन्दरी अहिल्या पर पड़ गई।
उसके सारे शरीर में आँखें हो गईं।
उसने सारे शरीर से उस युवती को देखा।
उसका मानस वैसा ही उद्वेलित हो उठा,
जैसा शरद-शर्वरीश के दर्शन से सागर हो उठता है।
उसकी अपनी सारी सुन्दरता नष्ट हो गई!
उसकी सारी कुरूपता को संकलित कर,
उसकी उद्वेलना अहिल्या के भोले सतीत्व पर उतरी!
गौतम से यह बात छिपी न रह सकी।
वे क्रोध के वशीभूत हो पाषाण के हो गये।
उनके हृदय से वह स्पन्दनशील चेतना चली गई,
जो नारी के प्रति सम्वेदना रखकर—
उसके आलिंगन के लिये सबलता से दौड़ती है।
अहिल्या ने नारीत्व की प्रबलता से प्रेम की याचना की,
परन्तु पति को पाषाण का पाया।
अहिल्या अपनी पतिनिष्ठा से यह भी अभिशाप न दे सकी—
गौतम! जा मानव हो जा।

—:*:—

४

मैं लिख डालता हूँ

जो भी मेरे मन में आता है मैं लिख डालता हूँ।
चन्द्र को भी मैंने कहीं-कहीं सागर बना डाला है,
और सागर को घटता बढ़ता चन्द्र !
चन्द्र को इससे सागर का वह आलिंगन मिला है,
जिसके लिये उसके हृदय में बड़े-बड़े ज्वार उठते हैं।
सागर को इससे वह सौन्दर्य मिला है,
जिसके लिये उसके उद्‌गार लहरों के साथ खेले हैं।
मेघों को भी मैंने कहीं चातक बना डाला है,
और चातक को सजल श्याम मेघ !
चातक को इससे मेघों की भी वह पिपासा मिली है,
जिसके कारण उन्होंने सागर को भी पी डाला है,
और मेघों को भी चातक का वह स्वाति जल मिला है
जिसके लिये वे सदा चातक बन कर उड़े हैं।
मैंने सरिताओं को भी सुन्दरियों के रूप में देखा है,
और सुन्दरियों को भी सरिताओं के रूप में !
सरितायें भी उन्माद से अभिसार को चली हैं,
और सुन्दरियाँ भी शृङ्गार से प्यार को !
परन्तु किसी ने कभी मुझे कोई उपालम्भ नहीं दिया।
जो मन में आया मैंने वह लिखा,
परन्तु जब वह मन का आगया तभी लिखा।

चिड़िया ने नीड़ बनाया

—:*:—

हां ! चिड़िया ने नीड़ बनाया,
पर इस आशा से नहीं कि उसका बच्चा,
एक ऐसा महाकवि बने गा,
जो उसके पंख लगा कर साकार कल्पना-लोक को उड़ेगा,
और पृथ्वी की सारी परिकल्पना हो बदल देगा ।
इस आशा से नहीं कि उसका बच्चा,
एक ऐसा संगीतज्ञ बनेगा,
जो उसकी चंचु लगाकर तारों पर से वे राग चुनेगा,
जो अन्तरिक्ष के सारे विभाग बदल देंगे ।
इस आशा से नहीं कि उसका बच्चा,
एक ऐसा चित्रकार बनेगा,
जो उसके पंखों के उड़ते हुए रङ्ग पाकर ऐसे चित्र बनायेगा,
जो तरु पादप के पत्र पत्र को भी चित्रपट बना कर,
अपने अनुराग-भरे आलिंगनों से भर देंगे ।
चिड़िया ने अपने सा ही आडम्बर हीन बच्चा पैदा कर,
नीड़ को भी तृण तृण कर उधेड़ फेंका ।
मानव कवि बनने की उत्कंठा से ही कुकवि बन गया ।
चित्रकार बनने की महत्वाकांक्षा से ही विचित्र बन गया ।
संगीतज्ञ बनने की अभिलाषा से ही बेसुरा बन गया ।
उसमें बर्बरता जागी और प्रतिस्पर्धा से,
चिड़ियों को भी पिंजरे में बन्द करने लगा ।

—:*:—

शासन किसका अच्छा

—:*:—

ग्रीष्म के बर्बर शासन से संसार झुलस गया।
सरोवर भी वृक्ष से झरे हुए शुष्क पत्र के समान—
निर्जीव से पड़े हुए दिखाई पड़ने लगे।
सरितायें भी पावस के शरीर से उतरी हुई—
परिधान जैसी भूतल पर पड़ी सूखती दिखने लगीं।
शुष्क आँधियों ने अपने शरीर पर वृक्षों के पत्रों के
पक्षियों जैसे शुष्क पंख लगाये और उड़ने लगीं।
जड़ चेतन ने भयभीत हो एक सबल आशा ले—
क्षितिज पर झाँकते हुए पावस के प्रथम पयोद को दे
कुछ विचार विनिमय किया, कुछ प्रतिज्ञायें लीं।
पयोद अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सत्तारूढ़ हो गये,
और उन्होंने सब कुछ भूल, प्रभुता के मद से—
अपनी विनाशकारी उखाड़ पछाड़ प्रारम्भ की।
सूखे सरोवरों ने, सरिताओं ने शक्ति पाई,
और सर्वत्र जल का ही आतंक छा गया।
जीवन ने ही कितनी सृष्टि को निर्जीव कर दिया।
प्राणियों की दृष्टि शीत-ऋतु की ओर गई,
परन्तु शीत ने भी अपनी उग्रता से वही किया।
शासन किसका अच्छा, जो प्रश्न है वही उत्तर।

—:o:—

जब घूँघट सामने आवे

—:*:—

जब घूँघट सामने आवे—
ऐसा तो हो कि एक अनिंद्य रूप की कल्पना—
मेरे मानस-पटल पर आविर्भूत हो जावे।
ऐसे मुख-चन्द्र का पूर्णोदय हो—
जिसमें पीयूष ही न हो, प्राण भी हों—
जिसमें शीतल प्रकाश ही न हो, सप्रकाश नेत्र भी हों।
जिसमें द्वितीया की कलायें ही न हों—
बंक भ्रकुटियों की लीलामय ऊर्मियाँ भी हों।
जिसमें कलंक की कालिमा ही न हो—
काजल की मंजुल रेखायें आँखों के साथ खेलती हों।
ज्योत्स्ना की कोमल किरणें ही न हों—
अधरों पर मन्द मन्द हास्य की आभा भी हो।
मेघों की घटायें ही न अम्बरवत घेरे हों—
यौवन की उल्कायें भी अपनी झलक देती हों।
जब घूंघट खुले मेरी मनोगत रूप-कल्पना—
साकार के साथ ऐसी एकाकार हो जावे—
कि न कल्पना की पराजय हो न साकार की विजय।
न कल्पना उसके परे ऊँची उड़ान भरे—
न साकार उसकी उड़ान से नीची उतरे।
मैं सुन्दर हो जाऊँ।

—:*:—

फाग खेलने गई थी

—:*:—

वह संसार में फाग खेलने गई थी।
मन में ऐसा रङ्गमय उल्लास लहरें ले रहा था,
जैसे उर्मिल सागर ही दिशाओं पर रङ्ग फेंक रहा हो
अपने मुख से चन्द्रमा का रङ्ग फेंकती,
सहज चंचल आँखों से यौवन का रङ्ग फेंकती,
यौवन से मदभरा अनंग का रङ्ग फेंकती,
अनंग से सौन्दर्य का रङ्ग छलका छलका कर अनंग को
तारों ने उस पर फाग खेली।
ज्योत्स्ना ने अपने कुमकुम भर भर कर उस पर फेंके।
चन्द्रमा ने प्रथक उस पर फाग खेली,
अपनी किरणों में भर भर अपना सारा पीयूष—
उस पर फेंक फेंक कर खाली कर दिया।
सूर्य ने उषा के सारे रङ्ग उस पर खाली कर दिये।
सारी प्रकृति ने उसे अपने रङ्ग से रंग दिया।
रस-विभोर हो जब वह घर लौटी,
वह अपने भीगे हुए हारों बालों के फन्दे छोरने लगी।
उसने अपनी भीगी हुई कंचुकी उतार फेंकी।
चूनर भी चौहरी पचौहरी कर निचोड़ने लगी।
मैंने देखा-वह मेरी आशा थी,
जो इस रङ्ग-भरी दुनिया से निराशा बन कर घर लौटी थी

घूमने निकल जाता हूँ

—:※:—

मैं बहुत दूर घूमने निकल जाता हूँ ।
मैं कभी उन मेघों के साथ निकल जाता हूँ,
जिन्हें अपने स्वामी कुबेर से अभिशापित यक्ष ने,
अपनी प्रिय भार्या के वियोग से उद्वेलित हो,
अपना, काम की अभिलाषाओं से बोझिल संदेश,
अपनी दयिते के समीप अलकापुरी को भेजा था,
और जो स्वयं यक्ष सा, उसके प्रति सम्वेदना से—
कृशांग तथा क्लेशित सा होकर कितना ही कष्ट सहते—
तथा दुर्गम मार्ग पार करते हुए पहुँचा था ।
मैं कभी उस मलय-बयार के साथ निकल जाता हूँ,
जो महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला के साथ—
क्रीड़ाशील लता बेलों में उन जैसी ही हिलमिल कर—
प्रगल्भता से उनका आलिंगन तथा परिरम्भन कर—
अपनी बासन्ती भावनायें उनमें भरा करती थी ।
मैं कभी उस चन्द्र के साथ भी निकल जाता हूँ,
जो मुझे कितने ही ऐसे अन्तः पुर दिखलाता है,
जहां चन्द्रमुखियां कितनी ही रहस्यमय भावनाओं से—
सतृष्ण उसकी ओर देखा करती है ।
मैं कभी अपने सदन में नही बैठता ।
जब मैं घूमते घूमते बहुत दूर निकल जाता हूँ,
तब मैं अपने बहुत समीप आ जाता हूं ।

—:※:—

तुझे कहीं देखा है

—:※:—

मैंने तुझे कहीं देखा है।
पता नहीं मैंने तुझे सागर की—
उस रूप-गर्विता लहर में कहीं देखा है,
जो अभिसार को निकली हुई सी एक रात में—
मन्द मन्द गति से मेरी ओर बढ़ती आ रही थी,
या मेरी ओर से मानिनी सी हट कर—
अपने सुदूर अन्तःपुर को भागती सी जा रही थी।
पता नहीं मैंने तुझे पावस की—
उस नवयौवना कादम्बनि में कहीं देखा है,
जो आलिंगन की अदम्य उत्कंठा सी भरे,
अपनी ही स्नेह-भरी भावनाओं से बोझिल—
आकाश से उतरती मेरी ओर आ रही थी,
या मुझे पपीहा सा रटता हुआ छोड़ कर,
अन्य किसी मरुस्थल की ओर बढ़ती जा रही थी।
क्या तेरे मुख पर झिलमिलाता कोई घूंघट था?
क्या तेरे घूंघट से तेरी आँखें झलक रही थीं?
क्या तेरी आँखों में उस समय कोई याचना थी?
क्या तेरे मुख पर उस समय मन्द-मन्द मुस्कान थी?
तुझे स्मरण है तूने मुझे कहीं देखा है।

—:※:—

तुम्हें कैसे मिलेगा

—:*:—

यह उपहार तुम्हें कैसे मिलेगा !
यह उपहार उस पपीहे को मिलेगा,
जो सारे मेघों को अपने कंठ में एक हार सा पहने—
उनके जीवन के सारे भार को खींचता हुआ —
अनन्त आकाश में अपने दो पंखों पर उड़ता है,
और अपनी अनन्त माधुर्य से भरी पिपासा की —
सम्वेदनाओं से उन्हें आर्द्र कर लेता है।
यह उपहार उस चकोर को मिलेगा,
जो चन्द्र को देखते देखते स्वयं चन्द्र बन कर—
स्नेह-समाधि में उसके पीयूष का पान करती है,
और अपनी साधना से उसकी साध्य बन जाती है।
यह उपहार उस कोयल को मिलेगा,
जो अपने कंठ को आकंठ मलय-बयार में डुबो देती है,
और उसकी मधुर तानें अपने कंठ से उछालती है।
यह उपहार उसे मिलेगा,
जिसके हृदय में पपीहे, कंठ में कोयलें, आँखों में चकोरें हे।
यह मस्तक की बिन्दी उसके मस्तक पर छपेगी,
जो घूंघट बन कर आँसुओं के घूंट पीता रहेगा।
यह उपहार मुझे मिलेगा।

—:*:—

देखते बनती है

—:*:—

बसन्त ! तेरी वाटिका देखते बनती है।
रसाल नवल मंजरी से ऐसे लद गये हैं,
जैसे उनके रस में एक ज्वार सा आ गया हो।
उनका सौन्दर्य निस्सन्देह कमनीय है,
परन्तु मैं चाहता हूँ, उनकी जगह कोई रूपसी—
कोई रूप-गर्विता खड़ी होती !
किंशुक भी ऐसे उल्लास से फूल उठे हैं,
जैसे फूलन की क्षितिज तक वे अपने को ही बिखेर देंगे।
उनकी सुषमा भी देखते बनती है,
परन्तु मैं चाहता हूँ, उनकी जगह—
कोई उर्वसी खड़ी खड़ी अंगड़ाई लेती होती।
कचनार भी ऐसे उन्मत से हो उठे हैं कि—
समूल जैसे प्रसून ही प्रसून बन जाना चाहते हों,
परन्तु मैं चाहता हूँ, उनकी जगह—
कोई मेनका खड़ी खड़ी अपना शृङ्गार करती होती।
यह कामुकता की आन्तरिक उद्वेलना नहीं,
सौन्दर्य की चरम परिकल्पना है।
तेरी वाटिका देखते बनती है बसन्त !
परन्तु जब वह न देखते बनती, तब वाटिका होती

—:o:—

गिरता जा

—:*:—

तू तिमिराछन्न अन्ध कूप में गिर रहा है न ?
गिरता जा, तेरे गिरने में भी कोई अभिप्राय है।
गिरानेवाला ही कोई तुझे गिरा रहा है।
उसने तेरा मार्ग देख लिया है।
उसे ही तेरी चिन्ता होगी कि तू सन्मुख—
पर्वताकार अंधकार से टकराये नहीं और उसका—
पाषाण जैसा कठोर हृदय तेरे टूक टूक न कर दे।
तू प्रकाश चाहता है परन्तु प्रकाश क्या—
तुझे देखता है, और तेरे पर तरस खाता है!
तू अपने पर तरस खाता है, पर यह तेरी दुर्बलता है।
देखता नहीं तेरे कंठ में गुण की एक माला संयोजित है ?
उस गुण की प्रबलता पर तुझे विश्वास नहीं !
तेरे मे कविता है तो गिरते हुए संसार को भी -
ऊपर उठाने की तेरे मे शक्ति है।
तेरे में चित्र कला है तो अंधकार से भरे पृथ्वी के,
चित्रपट पर भी प्रकाश की रेखायें खींचने की क्षमता है।
तेरे में संगीत कला है तो तेरी तरस में भी,
रस की वह संजीवनी है जो शून्य को भी सरस बना देती है।
ये मेरे जीवन-घट ! तेरे में यदि गुण है—
तो तू उसके बल से सबल हो फिर उठेगा—
और अपने में नया जीवन भर कर उठेगा।

—:※:—

पुस्तक बन्द कर दी है

सारी रात मैं आकाश के नीचे लेटा,
आकाश सा ही तन्मय होकर तारों को देखता रह
प्रत्येक तारे पर मैंने अपनी वह कविता सुनी,
जिसे मैंने अभी लिखा ही नहीं।
प्रत्येक तारे पर मैंने अपना वह गीत सुना,
जिसे मैंने कभी गाया ही नहीं।
प्रत्येक तारे पर मैंने अपना वह चित्र देखा,
जिसे मैंने कभी बनाया ही नहीं।
जिस कविता को मैंने कभी लिखा ही नहीं,
वह पूर्व ही से किसी तारे पर लिखी है।
जिस गीत को मैंने कभी गाया ही नहीं,
वह गीत पहले से ही किसी तारे पर गूंज रहा है।
जिस चित्र को मैंने कभी बनाया ही नहीं,
वह भी किसी तारे पर अपना प्रदर्शन कर रहा है।
मुझे लगा, कवि वही है जो लिखता नहीं गुनता है।
गायक वही है जो गाता नहीं सुनता है।
चित्रकार वही है जो चित्र बनाता नहीं वह चित्र देख
तारों को देखते देखते मैं शून्य को देखने लगा—
मुझे लगा जैसे मैंने पढ़ते पढ़ते—
अपनी सुन्दरतम कविता-पुस्तक बन्द कर दी हो।

जब तू आता है

—:※:—

अपने जीवन का भार अपने शरीर पर लादे हुए—
शून्य में स्वयं ही अपना सोपान सा बनाता हुआ,
मेरे प्रांगण में जब तू आता है,
हे पावस के प्रथम पयोद ! मुझे लगता है—
जैसे मैं भी किसी सुदूर प्रान्तर से—
अपनी कोई यात्रा समाप्त कर अपने सदन में आ गया हूं ।
तेरे अपने में न समाती हुई—
तेरे जीवन और यौवन की सम्पन्नता देख कर—
मुझे लगता है जैसे मैं भी तेरे सा सम्पन्न हो गया हूँ ।
जब तू गरजता है, मेरा भी मन गरजता है ।
जब तू चमकता है, मेरा भी रूप चमकता है ।
जब तू बरसता है, मेरा भी जीवन बरसता है ।
परन्तु जब तू बरस कर खाली हो जाता है,
मेरे सरोवर आकंठ भर कर लहराने लगते हैं ।
मेरी सरितायें आंधियों जैसी अपने में भरी दौड़ने लगती है ।
मेरे कूप अपनी गंभीरता को भर कर छलकने लगते है ।
तू सबको इतना भर देता है कि—
सब उछल उछल कर आकाश को भरने लगते हैं ।
परन्तु जब मैं अपनी ओर देखता हूँ—
मुझे लगता है जैसे मैं तेरे जैसा ही खाली हो गया हूँ ।

—:※:—

यह भी अच्छा है

—:※:—

यह एक उजड़ा हुआ राजप्रासाद है,
जिसमें मैंने कभी बड़ी धूमधाम देखा है !
राजा का आतंक था, प्रजा उसकी मनुहारें करती
सारे वातावरण में राजा ऐसा दीप्तिमान होता,
जैसे अपनी ज्योत्स्ना के बीच में चन्द्र !
राजा के भोग-विलास की झाँकियाँ दर्शनीय होतीं,
प्रजा उनकी योजनायें तैयार करती।
राजा अनंग की उपासना में स्वयं अनंग बना रहता
वहाँ जो वायु भी चलती भाव को चलाती।
उसमें मेनकायें आतीं और मन को हिला जातीं,
सुरा के रङ्ग से रंभायें झलकतीं और साकार हो—
अपना मदिर सौन्दर्य प्रसारित कर—
सब के सौन्दर्य का अपहरण करतीं,
प्रासाद के अन्तःपुरों से उर्वसियों की लहरें आतीं,
और सब के अन्तस्तलों में प्रवेश कर जातीं।
उनके नृत्य से सारी पृथ्वी नाचती,
उनके संगीत से सारा आकाश गाता।
सहसा रङ्गमंच पर पटाक्षेप हुआ और रङ्ग बदला।
आज वह राज प्रासाद खड़हड़ में खड़ा है।
वह भी अपने में सुन्दर था, यह भी अपने में सुन्दर

—※—

मैं नहीं समझ पाता

—:*:—

मैं नहीं समझ पाता—
तू वरदान देने आता है या अभिशाप ?
जब तू आंधी के रूप में आता है,
और धूल से व्योम मंडल को भर देता है,
जैसे पृथ्वी को ही पलट देगा,
वृक्षों को उखाड़ पछाड़ कर धरा पर बिछा देता है,
जैसे किसी पुस्तक के खड़े पन्ने दबा रहा हो,
मुझे लगता है जैसे तू अभिशाप देने आया हो।
जब तू ग्रीष्म की प्रचंड ताप में आविर्भूत होता है,
और सर सरिताओं का भी जीवन शोषण कर लेता है,
जैसे वसुधरा पर किसी को लहराने ही न देगा,
मुझे लगता है जैसे तू स्वयं अभिशाप बन कर आया हो।
जब तू काले काले मेघों के रूप में आता है,
और सृष्टि पर अपने को ऐसे बिछा देता है,
जैसे किसी बहेलिये ने पक्षियों पर जाल डाल दिया हो,
मुझे लगता है जैसे तू दुर्वासा ही बन कर आया हो।
कहीं किसी को उखाड़ देता है,
कहीं किसी को पछाड़ देता है, कहीं उजाड़।
परन्तु जब मैं तेरे प्रत्येक उत्पात से बचा रह जाता हूँ—
मुझे लगता है—तू कोई वरदान देने आया था।

—:*:—

तेरी क्या मनुहार करूँ

—:*:—

तेरी क्या मनुहार करूँ ।
तेरा मुख उस चन्द्र जैसा कहाँ है,
जिसका घूँघट हटते ही प्रत्येक घट सागर जैसा
उस अनिर्वचनीय सुषमा से भर जाता है,
और छलक छलक कर अपने लिये सागर बना ले
जिसमें आप ही अपनी लहरों के थपेड़े खाता है।
तेरी आँखें वैसी रसमय एवं रहस्यमय कहाँ हैं,
जो अपने कटाक्षों से वे कवितायें लिख सकें,
जिनको आँखें ही गा सकें आँखें ही सुन सकें।
तेरा हास विलास ऐसा रङ्गमय कहाँ है,
जो कुछ ऐसे अपूर्व चित्र अन्तस्तल पर बना सके,
जिन्हें अन्तस्तल ही देख सकें, समझ सकें।
तू सुन्दर है, परंतु तेरा सौंदर्य इतना सबल कहाँ,
जो अपने को साकारता देकर व्यक्त कर सके।
तू साकार है, परंतु तेरी साकारता ऐसी कहाँ—
जो संसार के अलंकार धारण कर सके।
तू चेतन है, परंतु तेरी चेतनता ऐसी उदात्त कहाँ—
जो मानव हृदय की सम्वेदनाओं को समझ सके।
मेरी मनुहार जब थक जायेगी, उसे कुम्हलाये हुए—
पुष्पहार सा तेरे कंठ में डाल ही दूँगा।

—:*:—

तेरा शृंगार मैं किये हूँ

—:‍‍❀:—

मैं जानता हूं तूने अपने मस्तक की सिंदूर बिन्दी—
मेरे मस्तक पर लगा दी है,
जिससे तेरे ललाट की उषा जैसी अरुण आभा—
मेरे मानस के कमलों को खिला रही है।
तूने अपनी आँखों का काजल मेरी आँखों में लगा दिया है,
जिससे तू मुझे मरुस्थल में भरे मृगजल सी दीखती है,
और मैं तेरे लिए एक अतृप्त पिपासा लिए दौड़ता हूँ।
तूने अपनी लाली मेरे अधरोष्टों में लगा दी है,
जिससे मेरे अधरोष्ट सुधारस से प्लावित हो गए हैं।
तूने अपनी कंचुकि भी मुझे पहना दी है,
जिससे मेरे वक्ष स्थल पर तेरी महत्वाकांक्षायें—
अपने किसी उत्थान की ओर देखने लगी हैं।
तेरे कंकण किंकिण सब मेरे शरीर पर झनक रहे हैं,
जिनसे मेरी कामनायें तेरे तन पर नृत्य करती हैं।
सुन्दरी! तूने यह क्या फाग सी खेली है?
अपना सारा शृंगार मुझे पहना दिया है!
मैं तेरा शृंगार उतार फैंकूँ तो तू मुझे—
उस उदासीन गोधूली सी दीख पड़ती है,
जिसके अङ्क पर कोई तारा उदित हुआ नहीं दीखता।
रूपसि! तू सुन्दर है क्योंकि तेरा शृंगार मैं किये हूँ।

—:❀:—

तेरे पर क्या लिखूँ

—:*:—

मैं नहीं समझ पाता-तेरे पर क्या लिखूँ !
कविता लिखूँ—पर तेरे में वे चित्र तो मिलते ही नहीं,
जो अपने सौंदर्य के आन्दोलनों से—
मेरे में यौवन के ज्वार पर ज्वार उठा कर—
मुझे उस चन्द्र के आलिंगन को ऊपर उछालते हैं—
जहाँ मधुर-मधुर कल्पनायें कविता के सागर भरती हैं ।
चित्र बनाऊँ—पर तेरे में वे कवितायें तो मिलती ही नह
जो अपनी व्यापक सम्वेदनाओं से—
उन सुषमाओं के झीने-झीने घूँघट खोलती हैं,
जिनके भीतर चित्रों के रङ्ग अपना रङ्गमञ्च बनाते हैं ।
गीत गाऊँ—पर तेरे में वे चित्र तो मिलते ही नहीं,
वे कवितायें तो मिलती ही नहीं,
जो गति और गायक बनकर, सितार और स्वर बन कर
कंठ और कोमलता बन कर, मीड़ और मूर्छना बन कर-
सरगम और अलाप बन कर, गति और ताल बन कर-
क्षण-क्षण शून्य के वक्ष स्थल पर विकसित होते हैं ।
मैं कविता लिखता हूँ परन्तु तेरी कल्पना भी—
उसमें नहीं आने देता ।
मैं चित्र बनाता हूँ, परन्तु तेरी छाया भी—
उस पर नहीं पड़ने देता ।
मैं गीत गाता हूँ, परन्तु तेरी संगति भी नहीं चाहता ।
परन्तु जब कुछ लिख जाता हूँ, मुझे लगता है—
जिसे मैं तू तू कहता हूँ—वह मैं ही तो हूँ !

—:*:—

तू मुझसे बड़ा बन जा

—:*:—

तू मुझसे बड़ा बन जा मुझे ईर्षा न होगी।
तू उस मलय-बयार सा लोकप्रिय बन जा,
जिसके शीतल स्पर्श की तरु विटप भी चाह करते हैं,
और आनन्दोद्रेक से उसे फूल मालायें पहनाते हैं।
तेरी वाणी उस कोयल जैसी मधुर हो जावे,
जिसे सुनकर कोयल स्वयं कूक कूक कर—
अपना ही अनुकरण करती है,
और अपनी ही मधुरिमा में लहरों सी लहराती है।
तू उस सजल मेघ सा आकाश को चढ़—
और अपने सपनों के उस अन्तिम सोपान तक पहुँच जा,
जहाँ से तू संकीर्णता को छोड़, उदार दानी बन कर—
सम दृष्टि से सब के लिए जीवन वृष्टि कर सके।
तू उस शरद शर्वरीश सा आकाश में चमक—
जिससे उस अनिन्द्य सौंदर्य की अजस्र वर्षा होती है,
जिसके आलिङ्गन के लिए सागर भी—
अपने ज्वारों में अपना यौवन समेटता हुआ उछलता है।
तू विराट सा बड़ा बन जा,
परन्तु तू मुझसे बड़ा तभी बन पायेगा,
जब तू मुझे अपने से बड़ा मान लेगा।

—:*:—

तुझे क्या ढूँढूँ



मैं तुझे क्या ढूँढूँ !
मैं शून्याकाश में उस मेघ-माला को ढूंढ़ता हूँ,
जो सर सरिताओं की मंजुल मालायें—
अपने अंचल में पुष्प-हार सी भर लाती है,
और मुझे ही अपना इष्ट-देव समझ कर,
मेरे ऊपर श्रद्धा-भावना से चढ़ा देती है।
मैं विभावरी की उस शारदीय सुषमा को ढूँढ़ता हूँ,
जो मुझे ही अपना चन्द्र समझ कर—
अपने पीयूष से मेरा अभिषेक करती है,
और अपनी सारी तारकावली को रिक्त कर देती है
मैं उस बासन्ती बयार को ढूँढ़ता हूं,
जो मेरी भाव-भीनी आरती उतारने के लिए—
प्रत्येक तरु विटप पर मञ्जरियों के, प्रसूनों के, मुकुलों
अनन्त दीपक प्रदीप्त करती है।
मैं कवि हूँ—अपनी कविताओं को ढूँढ़ता हूँ—
मैं गायक हूं—अपने गीतों को ढूँढ़ता हूँ—
मैं चित्रकार हूं—अपने चित्रों को ढूँढ़ता हूं।
मैं जीवन को ढूँढ़ता हूँ, यौवन को ढूँढ़ता हूँ।
मैं सत्य को ढूँढ़ता हूं, शिव को ढूँढ़ता हूं—
सौंदर्य को ढूँढ़ता हूं।
जब कोई नहीं मिलता—तू तो मिल ही जाता है।

जो भी प्रसाद चढ़ाता हूँ

—:※:—

मैं जो भी प्रसाद तुझे चढ़ाता हूँ,
वही तो लौट कर मुझे मिलता है !
यदि मैं अपने मानस के परात में—
चिन्तायें भर कर तेरे सन्मुख उपस्थित होता हूँ,
तो तेरा एक स्पर्श मात्र पाकर—
वे चितायें ही मेरे सामने लौट कर आती हैं।
यदि मैं अपनी अञ्जलि में अपने अभ्युदय की—
कुछ खिलती हुई आशायें तेरे सामने रखता हूं,
तो वे आशायें ही तेरे स्पर्श से समाहत हो—
मेरी अञ्जलि में लौटा कर रख दी जाती हैं।
यदि मैं अपनी कुछ मूक वेदनाएँ लेकर—
तुझे भोग चढ़ाने के लिए उपस्थित होता हूँ,
तो वे वेदनाएँ ही मुझे लौट कर मिलती हैं।
यदि मैं अपने आँसुओं से तेरे चरण पखारता हूँ,
तो उन आँसुओं का ही चरणामृत मुझे मिलता है।
परन्तु तेरे स्पर्श से उन सब में एक मिठास आ जाती है,
जो उनकी अपनी नहीं होती।
दुनिया की कटुतायें भी तेरा प्रसाद बन कर—
ग्रहणीय हो जाती हैं।

—:※:—

कौन चाहता है

—:*:—

प्रभात जैसा आता है वैसा ही चला जाता है।
चाहता कौन है कि वह टिका रहे :
वह आया नहीं कि संसार उत्कंठा से—
उस मध्यान्ह की प्रतीक्षा करने लगता है,
जिसमें भविष्य की धूमिल रूप रेखा—
कुछ अधिक प्रकाश में स्पष्टतया देखी जा सके,
और उसमें अपने भी कुछ रङ्ग भरे जा सकें।
मध्यान्ह आया नहीं कि संसार उसी उत्कंठा से—
उस संध्या की प्रतीक्षा करने लगता है,
जिसमें भविष्य की प्रदीप्त रेखाओं की ऊष्मा—
छाया में कुछ शीतलता प्राप्त कर सके,
और अपनी चिंताओं तथा प्रसन्नताओं की—
उद्वेलना एक दूसरे के ऊपर उठा कर देख सके।
सन्ध्या आई नहीं कि उस निशीथ की ओर दृष्टि
जिसमें आकाश के तारों से वे सपने उतरते हैं,
जिनमें सत्यं शिवं सुन्दरम् की कोई व्याख्या ही
प्रभात और निशीथ के बीच घन अरुण का कोई
प्रभात में, मैं उठ कर गीत गाता हूँ।
प्रभात के गीत गाता हूँ जिससे प्रभात टिका रहे

—:*:—

पत्र भी नहीं आता



वह दिन कितना बुरा होता है,
जिस दिन कोई पत्र भी नहीं आता !
उस दिन मुझे लगता है कि आकाश में—
आँधी का कोई धूमिल झोंका ही आ जावे,
और किसी वृक्ष के पत्र को ही तोड़ कर—
उडाता हुआ मेरे आंगण में डाल जावे !
उस पत्र पर ही मैं उन सुदूर अतीत के पूर्वजों की—
गम्भीर सम्वेदनायें और समाचार पढ़ूं,
जो समय की अनन्त लहरों को तैरते हुये—
मेरे तक आकर समाप्त हो जाते हैं।
उस पत्र पर ही आगे की उन पीढ़ियों की—
उस सुदूर क्षितिज तक कल्पनायें करूँ,
जिनके बीच में स्वयं किसी वृक्ष के पत्र में परिणत होकर,
बयार के आन्दोलनों से किसी डाल पर हिलता हूँगा,
और कोई आँधी मुझे भी ले उड़े गी।
मैं वृक्ष के पत्र पत्र पर भी पुराण पढ़ लेता हूँ,
जिनकी रचना निरंतर संसार के मानस में होती है,
और जिसे प्रकृति अपने रहस्य मय अक्षरों में—
वृक्ष वृक्ष के पत्र पत्र पर लिखती रहती हैं !
किसी किसी पत्र को पढ़ कर मुझे ऐसा भी लगता है—
वह दिन कितना अच्छा होता है,
जिस दिन कोई पत्र भी नहीं आता !



अच्छा नहीं लगता

—:*:—

जब तू प्रभात में भुवन-भास्कर बन कर,
सारे आकाश में अपना प्रकाश फैलाता आता है,
और मैं तिमिर के घूँघट से आँखें खोल कर,
तेरा घूंट दो घूंट प्रकाश पी लेता हूँ, तो—
क्या तुझे अच्छा नहीं लगता ?
जब तू पावस में सजल श्याम मेघ बन कर,
पृथ्वी पर मूसलाधार वृष्टि करता आता है,
और मैं मोह के वशीभूत होकर तेरी महान जलराशि :
अपना एक छोटा सा घट भर कर रख लेता हूँ, तो,
क्या तुझे अच्छा नहीं लगता ?
जब तू पृथ्वी के प्रांगण में एक भयङ्कर आँधी बन कर,
वृक्षों को झकझोरता उनके फल गिराता आता है,
और मैं तेरे गिराये हुये एक दो फल उठा लेता हूँ,
तो क्या तुझे अच्छा नहीं लगता ?
जब तू किसी अनिन्द्य सुन्दरी के रूप में,
अपने मुख का घूँघट खोलता हुआ मेरे सामने आता है
और मैं चोरी से एक दृष्टि तेरी ओर देख लेता हूं,
तो क्या तुझे अच्छा नहीं लगता ?
अपने धन के कृपण रक्षक ! यदि तुझे यह अच्छा नहीं
तो मुझे अच्छा लगने को यहाँ क्या है ?

—:*:—

सरिता भी सूख गई

—:❀:—

यह सरिता भी सूख गई,
जिसकी जीवन की गम्भीरता में,
कुछ ऐसे गूढ़ रहस्य छिपे हुये प्रतीत होते थे जैसे—
सारे आकाश की गहराई उसे मिल गई हो,
और सुदूरतम तारे अपना अस्पष्ट वातावरण लिए,
उसी के भीतर चमक रहे हों।
जीवन आगे भी भरा दिख रहा था,
पीछे भी वैसा ही भरा दिख रहा था,
परन्तु न जाने उसकी प्रगति किस ओर थी,
सागर से गागरें सी भर भर मेघ उठे,
मेघों से अभिसारिका सी सरिता बह निकली,
सरिता ने सागर को आत्म समर्पण कर दिया।
जीवन से भरा हुआ यह कमंडल सा लिये,
आकाश सन्यासी सा बना पता नहीं कहाँ जा रहा था!
जहाँ किसी गूढ़ रहस्य की सम्भावना थी,
वहाँ जीवन से धुली हुई बालुका निकल आई,
बालुका पर लहरों के पद-चिह्न दिखने लगे।
उनका अनुसरण कर कोई कहाँ जाये।
जीवन की भी सरिता सूख गई,
यही तो जीवन है।

—:❀:—

भयभीत नहीं होता

जब कोई चिंता मेरे सामने आती है,
मैं उससे भयभीत नहीं होता।
मैं स्वयं ही उसे बढ़ाकर इतना विशाल बना लेता हूँ,
कि मैं उसे उसकी पूर्ण सत्ता और शक्ति में देख सकूँ।
जब कोई आँसू आँखों में आते हैं,
मैं उनका सागर ही सामने भर लेता हूँ,
एक एक आँसू को एक एक सागर बना लेता हूँ,
ताकि उनका एक एक का विस्तार देख सकूँ।
जब कोई निराशायें सामने आती है,
उनकी काली रात ही पृथ्वी पर बिछा देता हूँ,
ताकि उनकी भी व्यापकता देख सकूँ!
कौन सी चिन्ता आकाश के परे जा सकती है?
कौन से आँसू पृथ्वी की परिधि के परे भर सकते हैं?
कौन सी निराशायें दिशाओं के परे जा सकती हैं?
मैं चिंताओं को बढ़ा कर ही उनके—
वेग से उड़ता हुआ उनके पार जाता हूँ।
मैं आँसुओं के प्रवाह से ह बहता हुआ—
उनके किसी सुदूर किनारे पर जा लगता हूँ!
मैं निराशाओं के अन्धकार से ही टकराता हुआ—
आकाश के किसी सुदूर तारे पर जा पहुँचता हूँ।
मैं अपने को बढ़ा कर देखने में ही बढ़ता हूँ।

यह गीत

—:※:—

मैं एक कृषक हूँ एक बड़ा कृषक !
पर मेरा खेत इस रजताच्छादित पृथ्वी पर नहीं !
रजताच्छादित अनन्ताकाश में है।
मैं हल चलाता हूँ, परन्तु यह लकड़ी का हल नहीं,
मेरा शुभ्र शर्वरीश का अर्ध वर्तुलाकार हल है,
जो द्वितीया की संध्या समय नभ में प्रकट होता है।
मैं उसमें वृषभ संयोजित करता हूं,
अपनी आँखों के दो हृष्ट पुष्ट वृषभ !
मैं उस भूमि पर बीज भी बोता हूँ,
अपनी स्वर्णिम अमूर्त कल्पनाओं के भविष्य से भरे बीज !
पीयूष-सलिला आकाश-गङ्गा उस भाव-भूमि को—
अपनी लहरों से घट सी उड़ेलती हुई निरन्तर सींचती है।
वे टिमटिमाते हुये तारे जो सारे गगन मंडल में—
अपनी परस्पर ज्योति से ज्योति जलाते हुये दिखते हैं,
मेरी कृपि के ही हरे भरे अंकुर हैं,
जिन पर मेरे भावों की बालें अपने पूर्ण यौवन में—
लहरातीं और अपने हीरे बिखराती हैं।
उस सुप्रभ धान्य में से जो बाल मुझे पकी हुई मिलती है,
मैं उसे एक आनन्द का अनुभव करता हुआ चुन लेता हूँ !
यह गीत उसी में की एक बाल है।

—:※:—

कहाँ रह गया

—:*:—

मुझे कहाँ पहुँचना था और कहाँ रह गया !
मुझे आकाश के उस सुदूर तारे तक तो पहुँचना ही था,
जहाँ तक मेरी आँखें जाती हैं,
परन्तु मैं तो इन आँखों के नीचे ही रह गया।
मुझे वहाँ तक तो पहुँचना ही था
जहाँ तक की बात मेरे ये कान सुनते हैं.
परन्तु मैं तो इन कानों के नीचे ही रह गया।
मुझे वहाँ तक तो पहुँचना ही था,
जहाँ तक मेरी वाणी जाती है,
परन्तु मैं वाणी के नीचे ही रह गया।
क्या मेरी आँखें उस सुदूर तारे ही से आई हैं,
जिस तक मुझे पहुँचना था ?
क्या मेरे कान उस सुदूर क्षितिज से ही आये हैं,
जहाँ तक मुझे पहुँचना था ?
क्या मेरी वाणी उस सुदूर सङ्गीत से ही आई है,
जहाँ तक मुझे पहुँचना था ?
महत्वकाँक्षा की लहरें आगे भी जाती हैं,
और पीछे भी लौटती हैं।
मुझे जहाँ तक पहुँचना था—
उसे अपने ही भीतर कहीं ढूँढ़ना है।

मेरी आँखें बन्द कर लीं

—:*:—

तूने छिपे छिपे पीछे से आकर,
अपने कर-पल्लवों से मेरी आँखें बन्द कर लीं !
मैं क्या बताऊँ-तू कौन है !
कैसे कहूँ कि तू निशीथ में क्रीड़ाशील वह चन्द्रमा है,
जो किसी पर्वत शिखर के पीछे से आकर—
अपनी कोमल किरणों से उसके नेत्र बन्द कर लेता है,
और मुझे भी पर्वत शिखर समझ कर—
अपनी क्रीड़ातुर भुजायें मेरी ओर बढ़ा दी हैं।
कैसे कहूँ कि तू वह सजल मेघमाला है,
जो पीछे से छिपे छिपे आकर अपने कोमल करों से—
चन्द्र और तारों की भी आँखें बन्द कर लेती हैं,
और मुझे भी चन्द्र या तारा समझ कर,
अपनी भुजाओं से अभिसार करती मेरी ओर आई है।
कैसे कहूँ कि तू वह अनिन्द्य सुन्दरी है,
जो अपने अपार सौंदर्य से सामने से ही आँखें बन्द कर—
पीछे छिप जाती है।
तेरे कर-कमलों में वह स्निग्धता है, मंजुलता है,
जो मानव को प्रेम में ही मिलती है।
तेरे स्पर्श में वह मूक मधुर स्पन्दन है,
जो दो हृदयों के एक होने पर अनुभव-गम्य होता है।
मैं कह दूँ—जो मैं नहीं सो तू है।

—:※:—

अधिक और क्या चाहता है

—:*:—

सम्राट ! इससे अधिक और क्या चाहता है ?
तेरा राज-प्रासाद तो किसी देव-मन्दिर से भी
ऊँचा और विशाल-काय है !
ऐसा शुभ्र और सुन्दर प्रतीत होता है जैसे —
उसे स्वयं चन्द्रलोक में ज्योत्स्ना की शिलाओं से—
सपनों की परिकल्पना के अनुरूप बनवा कर—
पृथ्वी पर उतारा गया हो !
तेरा अन्तःपुर कैसी अनिन्द्य सुन्दरियों से सम्पन्न है,
जैसे वे पृथ्वी से ही नहीं लोक लोकान्तरों से
देवों द्वारा उपहार स्वरूप चुन चुन कर भेजी गई हों !
उनके चारु चित्र भित्तियों पर निरन्तर नाचते रहते हैं,
और ऐसी ऐसी मनोरम मुद्रायें उपस्थित करते हैं,
जिनकी कुशल चित्रकार भी कल्पना नहीं कर सकते !
उनके विचित्र विचित्र शृङ्गार अपने बिम्ब प्रतिबिम्ब से
सारे अन्तः पुर को ही एक शृङ्गार-मंजूषा सी भरते रह
उनकी वीणा-विनिन्दक वाणी से—
सौन्दर्य और यौवन की ऐसी अपूर्व लहरें आती हैं,
जो किसी सागर में भी देखने को नहीं मिलतीं।
तेरे शक्ति है, समृद्धि है, सम्पन्नता है।
इससे भी अधिक यदि कुछ चाहता है—
तो किसी दीन हीन कृषक की पर्णकुटी में आ जा।

—:*:—

तेरी ओर न देखूँगा

—:*:—

मैं तेरी ओर न देखूँगा।
क्या तेरे मुख पर वह अनिन्द्य छवि है,
जो मेरी कल्पनाओं से निरन्तर छलक छलक कर—
जहाँ कहीं संचित हो जाती है और—
अगणित चन्द्र और तारे बना देती है?
क्या तेरी आँखों में वह उज्ज्वल आलोक है,
जो मेरी कामनाओं से आविर्भूत हो—
जहाँ कहीं भी कोई बुझा हुआ दीपक देखता है—
उसे अपनी दीप्ति से प्रज्वलित कर देता है?
क्या तेरे कपोलों पर वह मृदुल हास्य है,
जो मेरी मूक आशाओं से निर्झर सा झर झर कर—
उन मरुस्थलों को सींचता है,
जिनमें मेघ भी कभी किसी का संदेश लेकर नहीं आते?
क्या तेरे वक्षस्थल में वह यौवन है,
जो मेरे मानस की उमङ्गों से उछल उछल कर—
उन मेघों में भी ज्वार उठाता है,
जिनमें जीवन है पर अनङ्ग की उल्कायें नहीं?
तू अपने घूँघट में ही अपने मनोनीत चित्र बना।
मैं तेरा झिलमिलाता घूँघट भी नहीं!
तू मेरी ओर मत देख!

—:*:—

तुझे अपनी आँखों से दे

—:*:—

मैं चाहता हूँ तुझे अपनी आँखों से देखूँ।
मुझे चाहे तू जैसा भी दिखे।
संसार तुझे जीवन-दान देनेवाला पयोद कहता है,
परन्तु तू मुझे उस पपीहे सा दिखता है,
जो नीड़ की सी लकड़ी इन्द्रधनुष को चोंचु में दबाते
सुदूर चन्द्रमा के ऊपर नीड़ बनाने के लिए
संध्या की छाया को नीचे फेंकता हुआ—
अनन्त आकाश में एकाकी उड़ता जा रहा हो।
क्या मेरे देखने में कोई अन्तर है?
संसार तुझे जीवन से लहराता सागर कहता है।
परन्तु तू मुझे उस प्यासे मृग सा दिखता है,
जो अपनी पिपासा को मरु पर बिछाता हुआ—
उसमें नीर की कल्पना करता दौड़ता जा रहा हो,
क्या मेरे देखने में कुछ अन्तर है?
मैं तुझे अन्तर ही से देखना चाहता हूँ।
तू पयोद नहीं, उन प्यासे पपीहों का समूह है,
जो अपनी पिपासा से मन चाहा नीर बरसाते हैं।
तू सागर नहीं, प्यासे मृगों का संकलन है,
जो अपनी पिपासा से मेरे में जल के ज्वार उठाते हैं
अन्तर से ही देखने में तू कुछ दिखता है।
मैं नहीं चाहता तुझे दिखाने वाला कोई सामने आवे

*

मै हँसा

—:*:—

एक गगन-भेदी तुमुल स्वर घोषणा कर उठा—
हमारे नगर में सम्राट का आगमन हो रहा है।
चारों ओर एक विचित्र कुतूहल सा बिखर गया,
जिसमें जिज्ञासा तथा उत्कंठा आँखें बन कर—
अपनी कल्पना और परिकल्पना के परे देखने लगीं!
मैंने समझा आकाश से वही विराट उतर रहा है—
जिसने किसी समय तीन पैर में पृथ्वी नाप ली थी।
नहीं! नहीं! फिर विचार उठा,
विराट उतरे गा तो फिर वामन हो जायेगा!
आकाश के सुदूरतम क्षितिज का कोई दूसरा सूर्य होगा,
जिसके प्रकाश से मानव का मानस भी चमक उठेगा!
सम्भव है चन्द्रमा का वह भाग सामने आ रहा हो,
जिसको आकाश के तारे ही अब तक देख सकें हैं,
और अपनी आँखें भर भर उसके पीयूष का पान कर सके हैं।
नहीं! नहीं! समुद्र का कोई नया ज्वार होगा,
जो प्रलय के समय कभी आविर्भूत हुआ होगा!
सम्भव है किसी मरुस्थल से कोई बवंडर उठकर आ रहा हो,
जो कभी हिमालय का मित्र रहा हो!
परन्तु जब सम्राट सामने आया, मै हँसा—
सम्राट जनसमूह की विडम्बना से लिपटा हुआ—
अपने जैसा ही एक साधारण मनुष्य था!

—:※:—

तेरे में अभी बहुत पंगुता है

—:o:—

मानव ! तुझे अभी बहुत कुछ देखना है,
बहुत कुछ कहना है, बहुत कुछ सुनना।
तू अपनी आँखें कानों के स्थान मे तो लेजा,
फिर देख तूने कितना अधिक सुना है कितना कम देखा !
जब दोनों आँखें प्रथक प्रथक होकर देखेंगी —
दक्षिण उत्तर कुछ और दिखेंगे पूर्व पश्चिम कुछ और ।
आँखों का सहयोग प्रकृति के वियोग को नहीं देख सकता ।
तू अपने कान आँखों के स्थान पर तो ले आ—
फिर देख तूने कितना अधिक देखा है कितना कम सुना ।
आकाश पाताल कुछ और ही कहेंगे—
कानों की परस्पर दूरी संसार की एक स्वरता को—
एक साथ एक तार पर नहीं सुन सकती ।
तू अपने हृदय और मस्तिष्क को मुख के स्थान पर तो ले जा,
फिर कह तुझे क्या कहना है !
हृदय और मस्तिष्क का अन्तर ओठों को—
अपनी सीमा तक खुलने नहीं देता ।
हृदय का स्पन्दन, मस्तिष्क का चिन्तन—
वाणी में एक कम्पन ही पैदा करता है !
तेरी कविता बधिर है, तेरे गीत अंधे, तेरे चित्र बेसुरे !
मानव ! तेरे में अभी बहुत पंगुता है ।

—:o:—

समय का मूल्यांकन किया है

—:*:—

मैंने सदैव प्रकृति के तारों से तार मिलाये हैं।
यदि आकाश में कोई ऐसी मेघ घटा नहीं आई,
जिसका मैं कोई मनोनीत चित्र बना सकूँ,
केवल प्यासे पपीहों ने अपने सजल गीत सुनाये हैं,
तो मैंने अपने में मेघों की पिपासा जगाकर,
उनके साथ सजल गीत ही गाये हैं।
यदि शरद निशीथ में किसी विहंग ने गीत नहीं गाया,
जिसके स्वर-विधान में, मैं अपना कोई राग पा सकूँ,
केवल चन्द्र ने अपने मानस की मूक कविता सुनाई है,
तो मैंने उसके वक्षस्थल पर ही आँखें चलाकर—
उसकी सम्वेदनाओं से अपनी कविता लिखी है।
यदि बसन्त में किसी किंशुक या रसाल ने—
अपनी कोई मधु-भरी कविता नहीं सुनाई,
जिससे मैं अपनी कविता की मलय-बयार में बह सकूँ,
केवल वन उपवन ने अपने आन्तरिक उल्लास के—
मुकुलों और प्रसूनों में अपने चित्र ही उपस्थित किये हैं,
तो मैंने उनकी हृदय की मूक अनुभूतियाँ ग्रहण कर—
उनके रंग रूप में अपने चित्र ही बनाये हैं।
समय ने मेरा मूल्यांकन भले ही न किया हो,
पर मुझे संतोष है—मैंने समय का मूल्यांकन किया है।

—:*:—

गीत की प्रथम पंक्ति

—:*:—

जब मैं गीत की प्रथम पंक्ति लिखता हूँ,
मुझे लगता है जैसे कल्पना के शून्याकाश में—
द्वेज चन्द्र का उदय हो आया हो !
स्वर्ग की सुन्दरियों के मन में भावना उठती है—
कि गीत के लिये उनके सौन्दर्य से—
कुछ मनोनीत निधियाँ अवश्य ही संचित की जायेंगी।
यौवन उन्हीं से तो गीत को मिलेगा,
और उन्हीं के वक्षस्थल से तो गीत का वक्षस्थल—
उन्नत होकर उसे आकर्षण-शील बनावेगा।
गगन के तारों पर भी एक प्रसन्नता दौड़ जाती है—
कि गीत के लिये उनसे भी कुछ शृङ्गार लिया जायेगा।
गीत की मधुर मधुर स्मितियाँ उन्हीं से तो मिलेंगी,
जो यौवन में ऊर्मियों को जन्म देती हैं,
और सौन्दर्य को सुधा से भरती हैं।
सागर भी आन्तरिक उल्लास से उछलता है,
सोचता है क्या गीत के लिये मुझसे कुछ न लिया ज
मेरे ही से तो ऊर्मियों को संज्ञा प्राप्त होती है,
एवं सुधा की संजीवनी !
जब मेरा गीत बन जाता है, मुझे लगता है—
जैसे सब से कुछ-कुछ लेकर चन्द्र का पूर्णोदय हो गय

—:*:—

तू नहीं जानता

—:*:—

वृक्ष का पत्र हिला नहीं कि सागर के
सारे ताने-बाने खिंचे और उसके अन्तस्तल पर—
सोई हुई लहरें उठ उठ कर ऐसे नाचने लगीं,
जैसे सूत्रधार के सूत्र खींचने से काष्ट-पुत्तलिकायें।
लहरें नाची नहीं कि चन्द्र की प्रशान्त किरणों में—
ऐसा प्रकम्पन पैदा हुआ जैसे किसी ने—
वीणा के तारों को स्पर्श कर दिया हो !
किरणों में प्रकम्पन हुआ नहीं कि वे अस्त व्यस्त हो—
आकाश के मूक संगीत में अपनी तुमुल राग रागनियाँ—
भरती हुई स्वयं स्वर-लहरियों सी नाचने लगीं !
उनके नाच से उड़गन भी ऊपर नीचे उछलने लगे,
और सूर्य की किरणों में भी आन्दोलन होने लगा।
इस आन्दोलन से कितने ही परिवर्तनों का निर्माण हुआ।!
कितनी ही कल्पनाओं को रूप-रेखा मिली,
कितनी ही परिकल्पनाओं ने उनका आलिंगन किया !
कितने ही चित्रों ने रंग विरंगे वस्त्र पहने,
कितने ही गीतों का वाद्यों के द्वार पर अभिवादन हुआ।
कितनी पाषाण-मूर्तियों में प्राण जाग उठे !
मानव ! तेरे भाग्य का पत्र भी कहीं हिल रहा है,
जो तेरा निर्माण कर रहा है।

—:*:—

चिन्ताओं की लहर

—:❀:—

वह थी संकलित चिन्ताओं की विशालकाय लहर,
जो समुद्र के अति बर्बर ज्वार जैसी उठ कर —
मेरी ओर ऐसी बढ़ती आ रही थी,
जैसे वह मुझे एक पछाड़ देकर उठा ही ले जायेगी !
उसके आँखें भी नहीं थी कि मैं अपनी आँखों को
उसके मार्ग में खड़ा कर कुछ दृष्टि-विनिमय करता !
उसके श्रुत भी नहीं थे कि मेरे श्रुत उस पर—
अपना कुछ इन्द्रजाल करते और उसकी कुछ सुनते ।
उसके वाणी भी नहीं थी परन्तु उसकी गर्जना भयंकर थी
उसकी गर्जना में मेरी वाणी का एक भी शब्द नहीं था,
कि उसके विचारों में, मैं कुछ परिवर्तन लाता !
उसमें स्पन्दन था, गति थी परन्तु हृदय की नहीं,
कि मेरा हृदय उसका आलिंगन कर उसे प्रेम देता।
मैं परास्त सा, आशा रहित, नतमस्तक हो—
आत्म-समर्पण के लिये प्रस्तुत सा उसके सामने खड़ा हो
मेरा सारा पौरुष अपना स्वत्व भूल कर—
उसके स्वत्व में अपनी समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने ल
परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने अपने को तीर पर पड़ा पाया !
लहर भी मुझे जैसे अपने विराट वैभव में न ले सकी,
तिरस्कृत सा किनारे पर फैंक कर चली गई !

—:❀:—

तू चाहे जैसा बने

मैं बनाऊँगा अवश्य—तू चाहे जैसा बने !
मै चाहता हूँ कि तेरे मुख को चन्द्र जैसा सुन्दर बना दूँ,
ताकि सारा संसार तेरे सौन्दर्य की शैया पर लेट कर—
तुझसे प्रेम-मिलन के मधुर सपने देखे !
परन्तु तू चाहता है कि तू चकोर बन कर ही चन्द्र को—
अपनी आँखों की शैया पर लेटाये रहे और—
अपने मधुर परि-रम्भन में उसे लपेट ले !
मैं चाहता हूँ तेरी आँखों को मृगों जैसी विशाल बना दूँ,
ताकि संसार सतृष्णा मरु सा उनकी ओर देखे,
परन्तु तू चाहता है कि तू शुष्क मरु ही बना रहे—
कि संसार झूठ जीवन की आशा लिये—
तेरे अंक पर गिर गिर कर हताश हो मरता रहे !
मैं चाहता हूँ तेरी वाणी को कोयल जैसी मदिर बना दूँ—
ताकि तरु विटप भी उसे सुन सुन कर फूलें—
परन्तु तू चाहता है कि तू तरु विटप सा ही मूक बना रहे
कि मलयानिल तेरे पत्र पत्र को अपनी रसना देती रहे !
ये मेरे भाग्य ! तेरे मेरे इस संघर्ष में—
मैं नहीं जानता, मैं तुझे क्या बना पाऊँगा—
और तू मुझे क्या बना पायेगा ?!
परन्तु मैं अभी तक जो कुछ बन सका हूँ—
उसमें तू भी छिपा है और मैं भी !

तेरी पूजा तभी होगी

—:※:—

मानव ! तेरी पूजा तभी होगी,
जब तू अपनी ही बनाई एक मूर्ति बन जायेगा !
जब तू अपने चतुर्दिक ऐसा वातावरण बनायेगा,
जो मन्दिर के समान तेरे लिये खड़ा हो जायगा !
तू सत्य की व्याख्या जो भी करे,
परन्तु जो व्याख्या करेगा उसमें तुझे—
पाषाण जैसा ही अचल एवं कठोर होना पड़ेगा !
तेरा शिव का आदर्श कुछ भी हो,
परन्तु उसकी ओर तुझे एक मुद्रा से देखते रहना होग
तेरे सौन्दर्य की परिभाषा कुछ भी हो,
परन्तु तुझे उसको एक अभिलाषा से देखना होगा !!
जब तू अपने प्राणों को संसार की सेवा में लगा देगा,
संसार तेरे में प्राण प्रतिष्ठा करेगा !
मूर्ति का आविष्कार पाषाण की प्रतिष्ठा के लिये नहीं
उन अमूर्त भावनाओं की प्रतिष्ठा के लिये है,
जो एकनिष्ट होकर पाषाण के समकक्ष खड़ी हो जाती
मन्दिर का आविष्कार मूर्ति की रक्षा के लिये नहीं,
उन मूर्तिकारों की रक्षा के लिये है,
जिन्होंने अपने को ही यहाँ मूर्ति बनाया है ।

—:※:—

परिवर्तन नहीं चाहता

—:*:—

मैं तेरे में कोई परिवर्तन नहीं चाहता।
मैं नहीं चाहता कि तेरे मरुस्थल मृगांक बन जायें,
जिससे पीयूष की वर्षा होती है,
और मृग उसका पान कर मरुस्थल में भी न मरें।
मैं नहीं चाहता कि तेरे पावस में गरजने वाले मेघ—
बसन्त में ही अपनी दुन्दभी बजाने लगें,
और पपीहों के स्वर कोयलों के स्वर में मिलकर—
ऐसे संगीत का सृजन करने लगें,
जिसे न विप्रलब्धा विहाग में गा सकें,
न आगत-पतिकायें मल्हार में।
मैं नहीं चाहता कि तेरी संतप्त धूल भरी आँधियाँ—
प्यासे मृगों सी सजल पावस के अंक में दौड़ने लगें,
और लहराते हुए सरित सरोवरों को मरु बनाने लगें।
यह नहीं कि तेरा सारा आयोजन न्याय-संगत है।
परन्तु मैं अपने में परिवर्तन चाहता हूँ।
मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन से ही ऐसे मेघ उठें,
जो, जहाँ छलनामय मरीचिकायें हों,
वहाँ अन्ततरंगों से अलंकृत मानसरोवर भर दें,
ताकि प्यासे मृग कमल बन कर खिलने लगें,
प्यासे पपीहे हंस बन कर उड़ने लगें।
जब मेरे में मनोनीत परिवर्तन हो जायेगा,
तेरे में किसी परिवर्तन की चाह न रहेगी।

—:*:—

गठरी मेरे सिर पर रक्खी है

—:※:—

मुझे लगता है जैसे आकाश की—
यह बोझिल गठरी मेरे सिर पर रक्खी है,
जिसमें विशाल-काय तारे ही तारे भरे हैं,
और एक एक तारे में वे कल्पनायें भरी हैं,
जो अपने आकर्षण से पृथ्वी के भार से भी भारी हैं।
एक एक तारे में वे सुषमायें भरी हैं,
जो सुन्दरियों की शृङ्गार मंजूषा में कभी उतरी ही नहीं
एक एक तारे में वे कवितायें भरी हैं,
जो कामनियों के कटाक्षों में कभी आई ही नहीं,
न जिनके अधर कामनियों के अधरों पर कभी मुस्करा
एक एक तारे में वे मदिर गीत भरे हैं,
जिनको, वासन्ती बयार का भी पान करके—
रसाल की सरोवरों सी भरी मंजरियों में डूब डूब कर ।
कोयलों ने कभी गाया ही नहीं।
एक एक तारे में ऐसे चित्र भरे हैं,
जिनके रंगों में यौवन कभी डूबा ही नहीं न ऊपर उठ
आकाश की यह गठरी कल्पनाओं की गठरी है —
जिसका भार स्वयं कल्पनाओं के परे है !
मैं इस गठरी को कैसे उतार फेंकूं।
मुझे लगता है मैं स्वयं उसमें बंध गया हूँ।
प्रत्येक तारा उस गठरी की एक गांठ है।

—:※:—

अपने बिना तेरी कल्पना

—:*:—

मैं तेरे पर गीत नहीं बनाऊँगा,
क्योंकि मैं तुझे तेरी आँखों से तो देख ही नहीं पाता।
तुझे अपनी आँखों से देखता हूं तो—
तेरा अपने ही जैसा विकृत रूप दिखता है।
मेरी आँखें तेरे में भी उन मृगों जैसे नेत्रों की रचना कर लेती हैं,
जो अपनी आन्तरिक पिपासा को मरुस्थल में भी—
सरोवर सा लहराता हुआ देखती हैं।
मैं तेरी वाणी से तेरे विषय में कुछ बोल भी नहीं पाता,
अपनी वाणी से बोलता हूं तो तेरे में भी—
उस पपीहे जैसी रसना का रस ढूंढने लगता हूँ,
जो मेघों को भी मरुस्थल समझ जल की बूंद नहीं पाता!
मैं तेरे श्रुतपुटों से तेरे विषय में कुछ सुन भी नहीं सकता,
अपने श्रुतपुटों से सुनता हूं तो तेरे में भी—
उतनी ही गम्भीरता की कल्पना कर लेता हूं,
जो किसी गिरि कन्दरा में होती है और जिससे—
प्रतिध्वनियाँ बिना अन्ततम को स्पर्श किये लौट आती है।
मैं तेरी तेरे रूप में उस अनन्ताकाश तक कल्पना करता हूँ,
जहाँ मेरी छाया भी न पहुँच सके,
परन्तु मैं अपने बिना तुझे कहीं भी नहीं पाता!
क्या तू मेरे ही रूप में है या मैं ही तेरे रूप में।

———

तेरे मन का होगा

—:*:—

यदि तू चाहता है कि तेरे मन का हो जाये
तो तुझे ही अपने मन का करना होगा।
नहीं करेगा तब भी तेरे मन का होगा,
परन्तु आज नहीं कुछ समय पश्चात।
मन की इच्छायें सागर की लहरों जैसी,
अनन्त आकाश के अन्तिम तारे तक दौड़ती है
वहाँ से अपनी खाली गागरें जीवन से भर भर।
नव-युवतियों सी इठलाती हुई लौटती है।
उनके लौटने में कुछ समय लगता ही है,
एक युग दो युग, जितना भी लग जाये।
पृथ्वी पर आज जिनके मन का हो रहा है,
वह आज ही की योजना के फलस्वरूप नहीं है
उसकी बहुत पूर्व की इच्छायें आकाश से लौटी है
इच्छायें अमर है और उनकी शक्ति अपार।
वे जितनी ही दूर जाती हैं,
सागर के ज्वार सी बढ़ती जाती हैं।
वे जीर्ण शीर्ण शरीर से भी आविर्भूत हों,
परन्तु स्वयं जीर्ण शीर्ण नहीं होतीं।
तेरे मन का एक दिन होकर रहेगा,
परन्तु उस दिन तक, बहुत सम्भव है—
तू दूसरे मन का हो जाये।

—:o:—

मैं वे कवितायें ढूँढ़ा करता हूँ

—:*:—

मैं वे कवितायें ढूँढ़ा करता हूँ,
जिन्हें सुना सुना कर प्यासे पपीहे—
मेघ-घटाओं के भी अन्तर्घटों में—
अपने अन्तर्तम की ऐसी सबल सम्वेदनायें—
एवं मूक उद्वेलनायें भर देते हैं,
जिनसे वे भी आर्द्र होकर रो पड़ते हैं।
मैं वे मधुर मधुर गीत ढूँढ़ा करता हूँ,
जिन्हें गा गा कर अपनी अन्तर्तरंग में डूबी कोयलें—
तरु पादप में भी अपना वह उल्लास भर देती हैं,
जिससे मंजरियां हंस पड़ती है, प्रसून खिल पड़ते हैं,
और मलय बयार उनका आलिंगन करने लगती है।
मैं वे सुन्दर सुन्दर चित्र ढूंढ़ा करता हूं,
जिन्हें एकान्त अन्तःपुरों के प्रांगण में खड़ी हो—
विप्रलब्धा सुन्दरियाँ आँखों की तूलिका चला—
चन्द्र के मनोरम चित्रपट पर बनाया करती हैं.
और ज्योत्स्ना से ढाँक कर उन्हें छिपा रखती हैं।
वंचक तारे जिन्हें देखने के लिये,
रात रात भर चतुर्दिक चक्कर लगाया करते हैं।
मैं ऐसी मनोरम कवितायें ढूढ़ा करता हूँ,
जिनके ढूंढ़ने में, मैं स्वयं खो जाता हूँ।

—:*:—

एक घूँट जल है

—:※:—

मैं जितना ही लिखता हूँ,
उससे अधिक लिखने को दौड़ता हूं।
मेरा एक गीत समाप्त नहीं होता कि—
दूसरे के लिए शून्य की ओर देखने लगता हूँ!
समझ नहीं पाता पहले गीत से मुझे क्या न मिला।
और दूसरे गीत से क्या मिल जायेगा।
क्या मेरे गीत उसी रहस्यमय प्रेरणा से उग रहे हैं
जिससे पावस में विविध तृणांकुर जन्म लेकर—
क्षितिज पर क्षितिज लांघते हुए—
सरोवरों जैसा भूमि को आच्छादित कर लेते हैं?
तृणांकुर भी क्या किसी कवि के गीत हैं,
जो मेरे गीतों जैसे ही आगे बढ़ते जाते हैं।
मै इन गीतों के पीछे ही उस मृग सा दौड़ता हूँ,
जिसे मरुस्थल में निरंतर कुछ आगे—
मरीचिका का सुरम्य जलाशय भरा हुआ दीखता है।
जो भी अन्तर्प्रेरणा हो, जो भी नियति की योजना,
जब कोई गीत बन जाता है, मुझे लगता है,
जैसे मरुस्थल में ही दौड़ते हुए—
मेरे मृग को एक घूंट जल मिल गया हो।
यह गीत वही एक घूंट जल है।

—:※:—

आज का गीत कुछ और है

—:※:—

कल जैसा ही प्रभात आज भी आ गया।
सूर्य के प्रकाश ने कल जैसा ही अपना वितान ताना,
और कल को ही अपनी समस्त कला के साथ—
आज के रूप में यथा स्थान सजाने लगा।
उर्तियों से छायायें उतर उतर कर भित्तियों पर—
फिर वैसे ही अपने चित्र बनाने लगीं,
जैसे उन्होंने कल बनाये थे,
और कल और आज का अन्तर सा मिटाने लगीं।
वृक्ष पूर्ववत अपना रूप सम्हालते हुए से—
प्रकाश के मुकुर में अपने प्रतिबिम्ब देखने लगे।
पक्षी फिर अपने पंखो पर प्रभात को बैठाले हुए—
पृथवी पर अपने पदचिन्ह से छोड़ते हुए उड़ने लगे।
कल के रङ्गमञ्च पर आज भी कल का नाटक—
अपने उन्हीं कलाकारों के साथ, उसी रूप रेखा में—
आ गया जैसे कहीं कोई परिवर्तन हुआ ही न हो।
परन्तु इसी बयार के स्वर में —
मेरा कल का गीत कुछ और था,
आज का गीत कुछ और है।
यही अन्तर है जो प्रकृति के अन्ततंम में—
प्रतिबिम्बित हो परिवर्तन के रूप में सामने आता है।

—:※:—

अभावों की छाया न पड़े

—:※:—

जब मैं गये हुए शैशव के विषय में सोचता हूँ,
मेरे पर अभावों की असित छाया से —
धूमिल चन्द्र ग्रहण सा लग जाता है।
शैशव मुझे सुदूर अन्तरिक्ष में चमकता हुआ —
उज्ज्वल सूर्य सा दिखने लगता है,
और यौवन बीच में पृथ्वी सा आकर —
अपनी अतृप्त वासनाओं, परास्त कामनाओं की —
मलिन छायायें मेरे ऊपर फेंकने लगता है।
मैं वृद्ध सा चन्द्र ग्रहण में दबा हुआ सा हो जाता हूँ
जब मैं गये हुए यौवन की बात सोचता हूँ,
मेरे पर आन्तरिक उद्वेलनाओं की मलिन छाया से
सूर्य ग्रहण सा लग जाता है।
यौवन मुझे शैशव और वृद्धापन के बीच आया हुआ
उस आगंतुक चंद्र सा प्रतीत होने लगता है,
जिसकी कलायें पूर्ण होकर विलीन हो जाती हैं।
मुझे लगता है जैसे मेरी ही चमक से सूर्य उज्ज्वल
मेरी ही चमक से चंद्र प्रदीप्त।
मेरी भावनायें चंद्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण बना कर—
मेरे साथ खिलवाड़ किया करती हैं।
मैं चाहता हूँ उन पर अभावों की छाया न पड़े।

—:※:—

आता है

—:᪥:—

मेरा प्रत्येक गीत अनन्त के जाने किस लोक से—
सागर की रूप-गर्विता उस लहर सा आता है,
जो अपने अंचल मे भर कर—
अपने जीवन की कुछ बहुमूल्य सम्वेदनायें लाती है,
और एकान्त तीर पर छोड़ कर चली जाती है !
मेरा प्रत्येक गीत जड़ चेतन के, जाने किस मानस से—
उस विराट सी बढ़ती हुई मेघ घटा सा आता है,
जो अपने यौवन की कुछ मदिर अनुभूतियाँ—
चपला की चमक से अपना चीर सा फराती हुई—
वन उपवन के निस्तब्ध प्रांगण में फेंक जाती है !
मेरा प्रत्येक गीत जाने किस नन्दन कानन से—
शीतल मन्द सुगन्ध बयार सा आता है,
जो अपने सौन्दर्य की कुछ अनूप झांकियां—
तरु विटप पर मंजरियों के रूप में फेंक जाती है !
मैंने सागर तीर की भीगी बालुका में—
वे सम्वेदनायें पाई हैं जो मानव के भीगे कपोलों पर—
आंसुओं के साथ बह आती हैं !
मैंने वन उपवन में वे अनुभूतियाँ पाई हैं,
जो मानव के हृदय में निरन्तर स्पन्दन करती हैं !
मैंने तरु विटप की मंजरियों में वह सौन्दर्य पाया है,
जो सौन्दर्य पर अंगराग बन कर चढ़ता है !
यह गीत मेरे प्रत्येक गीत की भूमिका है !

—:᪥:—

क्या हलाहल भरा है

—:o:—

तेरे रंगों में क्या हलाहल भरा है !
तेरे रंगों से तो मेरे रंग ही भले हैं !
मैं अपने रंगों को जिस चित्र पर चढ़ा देता हूं,
वे उस चित्र की शोभा बढ़ाते हैं !
काला रंग सदा शीर्ष स्थान पाता है,
और किसी सुन्दरी की बेणी के रूप में प्रकट होकर—
अपने को धन्य भाग्य समझता है।
आँखों का काजल बन कर तो सब की आँखों को खोलता है !
गोरे रंग मुख मंडल पर स्थापित होकर—
अपने गौरव की झाकियाँ झलकाता है !
जिस रंग को कंचुकी पर चढ़ने का श्रेय मिल जाता है,
वह मानों हिमालय की उच्चतम शिखर का—
पहला पर्वतारोही हो जाता है !
प्रत्येक रंग जिस स्थान को पाता है,
उसकी महत्ता अभिव्यक्त कर अपनी महत्ता दिखाता है !
चित्रकार ! पर तेरा प्रत्येक रंग—
ऐसे अन्तर-विद्रोह से भरा है, ऐसे भेद भाव से भरा है—
कि वह किसी एक चित्र में स्थायी होता ही नहीं !
तूने विश्व का चित्र बनाया,
परन्तु विश्व-भावना का चित्र न बना सका।

—:o:—

कभी मार्ग छोड़ेगा

—:*:—

तू देश का एक बड़ा हितैषी है !
तेरी कल्पनाओं में मेघों जैसा जीवन भरा है,
जो यदि सारा का सारा यहाँ बरस पाया तो—
रसवती रस से छलक उठेगी,
तेरे सपने सरोवरों में लहरें लेते दिखेंगे,
तेरी महत्वाकांक्षायें नदियां बन कर बह निकलेंगी !
सम्पन्नता के अंचल के नीचे विकासशील समृद्धि—
यौवन का रूप धारण कर बढ़ेगी !
तेरी योजनाओं में वह मादक मलय-बयार बहती है,
जिसके स्पर्श मात्र से जड़ चेतन में—
एक ऐसी सिहरन सी पैदा हो जाती है,
जिससे वे अपनी जीर्णता शीर्णता को भूलकर—
नये भविष्य की नयी रूप रेखा बनाते हैं !
तेरी प्रेरणा और प्रयास से निश्चय ही देश —
किसी दिन नयी सभ्यता नया जीवन धारण कर —
शुष्क आतपाहत वृक्ष पर भी—
अरुण अरुण किसलय गुच्छ सा निकल पड़ेगा !
परन्तु तू कभी यह भी सोचता है क्या —
कि किसी अन्य योजना का तू ही रोड़ा बना है।
क्या स्वेच्छा से उसका कभी मार्ग छोड़ेगा ?

—:*:—

तेरा गीत सुना है

—:*:—

मैंने कहीं तेरा गीत सुना है।
क्या तूने कभी मंजरियों से मन की लहरें फेंकते—
उन रसाल, उन किंशुक, उन कचनारों के कुञ्जों में--
कोयल बन कर, अपने मंजुल स्वर में गाया है,
जो अपनी सहज तान से ऊपर के सारे वितान को,
स्वरित कर अपना एक कंठ सा बना लेती है,
और अपने स्वर-प्लावन में अपनी वासनायें घोल कर-
जड़ चेतन को उनमें डुबा देती है।
क्या तूने कभी किसी सरोवर के बीच,
सरोवर से ही लहराते हुए पंकज के किंजल्क में उतर,
मधु लिप्सा से मधुकर बन कर गाया है,
जो अपने गीत की अजस्र एवं श्रुत-प्रिय गुंजार से—
अपनी स्नेहमयी वे सम्वेदनायें प्रसारित करता है,
जिनसे पंकज भी अपना हृदय खोल देता है!
क्या तूने कभी पावस की मेघमाला के नीचे भी,
वह पपीहा बनकर गाया है,
जो अपनी रहस्यमय पिपासा का गीत गाकर—
सजल मेघों को भी अपना सा तृषित बना देता है!
कहीं रसाल पर, सरोवर के तीर, कादम्बनि के नीचे—
मुझे लगता है—तूने मेरा गीत गाया है।

—:✻:—

मेघ घिर आते हैं

—:※:—

जब पावस के मेघ घिर आते है,
मुझे लगता है जैसे कोई राज प्रासाद—
अपनी विचित्र बनावट में मेरे सामने आगया हो।
उसके सैकड़ों छोटे बड़े गुम्बज चांदी जैसे चमकने लगते हैं,
कितने ही गगन-चुम्बी प्राचीर सामने खड़े हो जाते हैं,
और कितने ही कक्ष से खुल जाते है।
मैं उस राज प्रासाद में एक राजा सा घूमने लगता हूँ,
कभी इस कक्ष मे जाता हूं कभी उस कक्ष मे,
कभी इस प्राचीर के तीर पर फिरने लगता हूं,
कभी उस प्राचीर के तीर पर।
मैं नही जानता मै क्या ढूंढ़ने लगता हूँ।
जब विद्युत चमकती है मुझे लगता है,
जैसे सैकडों रानियां मेरे सामने से निकल गई हों,
और मैं स्वयं राज प्रासाद सा खड़ा रह गया हूँ।
जब मेघ मन्द-मन्द गरजते है मुझे लगता है—
जैसे सैकडों कंकण किंकिण मेरे कानों मे बज गये हों,
और मैं राज प्रासाद सा ही गूंज उठा हूँ।
मुझ अवांछनीय अतिथि को हटाने के लिये,
मेघ जल में परिणत हो बरसने लगते हैं,
और मै, उनके बरसते ही, अपने घर आ जाता हूँ।

—:※:—

दूसरा द्वार खुलेगा

—:ॐ:—

यदि राज-प्रासाद का द्वार बन्द हो गया है—
तो तेरे लिये कोई दूसरा द्वार खुलेगा !
प्रकृति का द्वार उन्हीं कपाटों से खुलता है—
जिनसे राज प्रासाद का द्वार बन्द होता है !
क्या सहज उदार वृक्ष तेरी पर्ण कुटी के लिये—
अपने शरीर से उतार कर कुछ पत्ते भी न देंगे !
क्या उनकी शीतल छाया तुझे एक वस्त्र भी न देगी।
क्या उनके फल भी असफल होकर—
ऊपर अपनी डालों पर मुरझाते रहेंगे।
मेघ आयेंगे और नई जीवन-व्यवस्था से—
नवीन भविष्य के सारे घट भर-भर कर—
उसके सिर पर अपना सारा भार रख देंगे—
क्या तू अपना भी उस जीवन-प्लावन में घट न भर सके
और भविष्य की उद्‌भावना में भूत को भूल सकेगा ?
चन्द्र आयेगा-और अपने सौन्दर्य से—
सारे भूखंड को प्रशान्त महासागर सा भर देगा।
क्या तू उस महान सौन्दर्य से आकृति पर आये हुए—
विकृति के छोटे छोटे गह्वर भी न भर सकेगा।
अनन्ताकाश के नीचे सूर्य के प्रकाश में तू निकला ही
जो भाग्य तुझे राज-प्रासाद के भीतर ले गया था—
तेरे ही पीछे लौट आया है, तेरे साथ है।



असत्य से चिढ़ है

—:※:—

जब चित्तौढ़ की रानी पद्मिनि न मिली,
अलाउद्दीन ने जौहर कर लिया ।
उसने संज्ञा-शून्य से हाथ से एक मुट्ठी राख उठाई,
और उसे उडाते हुए कहा-पुहमी झूंठी है ।
राख सारी पृथ्वी को राख सा बनाती फैल गई,
वह अलाउद्दीन पर भी उड़ कर पड़ी,
और वह भीतर भीतर जलता अंगार सा उसमे ढक गया ।
उसकी बर्बर सौन्दर्य-पिपासा,
जिसके कारण वह सारे हरे भरे चित्तौड़ को,
एक मरुस्थल बनाता हुआ दौड़ा,
उसी मरुस्थल में, आशा की मरीचिका में डूब गई ।
प्यासे पपीहे को वह स्वाति बूंद न मिली,
जिसके लिये वह स्वयं भयंकर मेघ सा चित्तौड़ पर चढ़ा,
शोणित की घनघोर वर्षा हुई,
अस्त्र शस्त्र बिजलियों जैसे तड़क तड़क कर चमके,
योद्धाओं के प्राण भयभीत पक्षियों जैसे उड़ उड़ भागे,
और सर्वत्र विनाश बिछ गया ।
उसकी अन्तरात्मा अपनी ही अभिशाप से भस्म हो गई ।
परन्तु इतिहास कहता है पद्मिनि ने जौहर कर लिया,
इतिहास को असत्य से बहुत चिढ़ है,
क्योंकि उसमें असत्य ही असत्य भरा है ।

—:※:—

तैयार हो रहता हूँ

—:*:—

मैं पृथ्वी पर आने वाले परिवर्तनों के लिये,
पहले ही से तैयार हो रहता हूँ।
मेरे प्रांगण में प्रभात का उदय हुआ नहीं कि,
मैं अपने छोटे से दीपक को जला लेता हूँ।
मैं जानता हूँ कि असित-वदना रात आयेगी,
और उसके अंचल से सारी पृथ्वी समावृत्त हो जावेगी,
तब फिर अपने ही प्रकाश से अपन को देखना होगा।
आकाश कोने कोने में तारे जला कर अपने को देखेगा,
चन्द्र दीपक बन कर आकाश को देखेगा,
सन्ध्या हुई नहीं कि मैं दीपक बुझा देता हूँ,
मैं जानता हूँ कि उज्ज्वल दिवस आयेगा,
और पृथ्वी के सारे दुर्गम मार्ग दिख पड़ेंगे,
उन पर बिछे हुए प्रकृति के सारे षड्यंत्र खुल जायेंगे।
दिशायें खुलेंगी, आशायें हँसेंगी!
मैं दिन में सारी रात तक का देख लेता हूं।
मैं रात में सारी रात तक का देख लेता हूँ।
मै दिन में दीपक लिये सारे दिन फिरता हूं।
रात में दीपक बुझाकर सारी रात सोता हूं।
मेरा दीपक सारी चिन्ताओं को पतंगों सा जला देता है।
चिन्ताओं से ही मेरा दीपक जलता है।

—:*:—

तेरा बड़प्पन कब बढ़ेगा

—:*:—

तेरा बड़प्पन कब बढ़ेगा ?
क्या जब तेरे घर कोई बड़ा आदमी ही आयेगा ?
अखिल ब्रह्मांड को अपने तेज से आलोकित करने वाला,
दिवाकर, दिन प्रति दिन तेरे घर आता है,
परन्तु तब भी क्या तुझे अपने बड़प्पन में,
कुछ वृद्धि हुई सी प्रतीत नहीं होती ?
अखिल आकाश को अपने असीम सौन्दर्य से—
सुन्दर बनाता हुआ निशापति तेरे आँगण में आता है,
परन्तु तब भी क्या तुझे अपने सौन्दर्य में,
कोई बाढ़ सी आई हुई नहीं आभासित होती ?
तेरी महत्वाकांक्षाओं की मंजु माला सी उज्वल—
स्वयं आकाश-गंगा तेरे कंठ में हार डालती है,
तब भी क्या तुझे किसी विजय का गौरव नहीं मिलता !
सागर भी तेरे घर पर आता है और,
तेरी ही मानस की लहरों से अपनी गागर भर ले जाता है,
तब भी क्या तुझे अपने जीवन की सम्पन्नता की,
पीयूषमयी अनुभूति नहीं उपलब्ध होती ?
तेरे घर पर किसी बड़े के आने से ही यदि बड़प्पन मिलेगा—
तो तेरे घर पर तुझ से बड़ा कौन है !

—:※:—

अपना चित्र स्वयं बना

—:*:—

तू अपना चित्र स्वयं बना !
यदि मैं तेरा चित्र बनाऊँगा,
तो तेरी आँखों पर अपनी आँख चलाऊँगा
जो अपने चरण-चिह्न तेरी आँखों पर छोड़ जायेगी,
और तू उन्ही चरण-चिह्नों का अनुसरण करेगा !
सम्भव है मैं तेरा चित्र बहुत सुन्दर बना दूँ,
परन्तु वह सौन्दर्य तुझे अपरिचित बना देगा,
और तू उसमें अपने को न देख सकेगा !
सम्भव है मैं तुझे बहुत कुरूप बना दूँ,
और उसकी कुरूपता भी तुझे छिपा दे !
मैं तुझे तेरे जैसा कभी न बना पाऊँगा !
मेरे तेरे बीच बहुत अन्तर है, जो अनन्त के बराबर है !
तेरे में तेरा अपना महाकाव्य छिपा है,
जिसे तू ही इस विश्व के विशाल पृष्ठों पर लिख सकेग
तेरे में तेरे अपने मधुरतम गीत छिपे हैं,
जिन्हें तू ही आकाश के मूक तारों पर गा सकेगा !
तेरे में तेरा मनोनीत चित्र छिपा है,
जिसे तू ही अपनी सम्पूर्ण विचित्रता के साथ—
अपने प्रकाश और छाया से, इस पृथ्वी के चित्रपट पर,
अपने पदों पर चल कर चित्रित कर सकेगा !
अपनी तूलिका उठा और अपना चित्र तू ही बना !

—:*:—

यह क्यों चाहता है

—:❀:—

तू यह क्यों चाहता है कि तेरी कविता—
अपने में सीमित एक मानव ही सुने
यह क्यों नही चाहता कि तेरी कविता—
वन उपवन के उदार-हृदय तरु-विटप सुने,
जो तेरी कविताओं से ही महाकाव्य बने हुए—
तेरे जीवन की विविध सम्वेदनाओं को,
मंजरियों, प्रसूनों, किसलयों, पतझड़ों में व्यक्त कर,
तेरी ही मूक अभिव्यंजना करते है।
तू यह क्यों नही चाहता कि तेरी कविता -
जीवन के अजस्र श्रोत वे महार्णव सुने,
जो तेरी कविताओं से ही महाकाव्य बने हुए,
अपने जीवन की संघटना एवं संपूर्णता को,
कहीं उखाड़ते, कहीं, पछाड़ते, कहीं जोड़ते,
तेरी ही अनुभूतियों का तुमुल अभिनय करते हे,
और अपनी सहृदयता तेरी ही ओर सदा फेंकते हैं।
तू यह क्यों नही चाहता कि तेरी कविता -
यह खुला हुआ अनन्ताकाश सुने,
जो तेरी ही कविताओं से महाकाव्य बना हुआ,
तेरे गूढ़ रहस्यों का संकलन करता है,
और अपनी सहानुभूति तेरी ओर ही फेंकता है।
यदि तू चाहता है—तेरी कविता मानव ही सुने,
तो उसे मन ही मन पढ़ और अपने को सुना।

—:❀:—